वार्षिक रु. १३०, मूल्य रु. १५

विवेक ज्योति

वर्ष ५६ अंक ९ सितम्बर, २०१८

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २०१८

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५६
अंक ९

वार्षिक १३०/– **एक प्रति १५/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–
१० वर्षों के लिए – रु. १३००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस., व्हाट्सएप अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ४० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षो के लिए २०० यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक १७०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ८५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

श्रीरामकृष्ण देव का यह मन्दिर हरिद्वार स्थित रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कनखल का है। सेवाश्रम की स्थापना १९०१ में हुई थी । आवरण-पृष्ठ में मन्दिर के पार्श्व भाग में १५० शय्यावाला अस्पताल है, जहाँ स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित आदर्श 'शिवभाव से जीवसेवा' से रोगी-नारायणों की सेवा-शुश्रूषा की जाती है ।

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

विवेक-ज्योति के सदस्य बनाएँ

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण और विश्ववन्द्य आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है । इससे गत एक शताब्दी से भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हो रहा है । राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द, आदि कालजयी विभूतियों के जीवन और कार्य अल्पकालिक होते हुए भी शाश्वत प्रभावकारी एवं प्रेरक होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण करते हैं । श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा नित्य उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण विश्ववासियों में परस्पर सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है ।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सार्वजनीन उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के लिए स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से 'विवेक-ज्योति' पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था, जो १९९९ से मासिक होकर गत ५६ वर्षों से निरन्तर प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती आ रही है । आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बँटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें । **— व्यवस्थापक**

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
सुश्री राजश्री घोष, जयनगर, जबलपुर (म.प्र.)	१०,०००/-
श्री नारायणभाई टी. आडवानी, जूनागढ़ (गुज.)	१,०००/-
श्री ए.जी. शर्मा, करणी नगर, बीकानेर (राज.)	२०००/-

क्रमांक विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
५०८. श्री आशीष कुमार बॅनर्जी, शंकर नगर, रायपुर	रामकृष्ण सेवा केन्द्र, आदीपुर, कच्छ (गुजरात)
५०९. श्री बी.एल. सिंह, बी.एस.एस.पी. स्कूल, रायबरेली (उ.प्र.)	बी.एस.एस. पब्लिक स्कूल, अमोल विहार, रायबरेली (उ.प्र.)

वर्ष ५६ सितम्बर २०१८ अंक ९

मुकुन्दाष्टकम्

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्यपत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
संहृत्यलोकान् वटपत्रमध्ये शयानमाद्यन्तविहीनरूपम् ।
सर्वेश्वरं सर्वहितावतारं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
आलोक्यमातुर्मुखमादरेण स्तन्यं पिबन्तं सरसीरुहाक्षम् ।
सच्चिन्मयं देवमनन्तरूपं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
इन्दीवरश्यामलकोमलाङ्गं इन्द्रादिदेवार्चितपादपद्मम् ।
सन्तानकल्पद्रुममाश्रितानां बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
कलिन्दजान्तस्थितकालियस्य फणाग्ररङ्गे नटनप्रियं तम् ।
तत्पुच्छहस्तं शरदिन्दुवक्त्रं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
शिक्येनिधायाज्यपयोदधीनि कार्यातातायां व्रजनायिकायाम् ।
भुक्त्वा यथेष्टं कपटेन सुप्तं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
लम्बालकं लम्बितहारयष्टिं शृंगारलीलाङ्कुरदन्तपक्तिम् ।
बिम्बाधरापूरितवेणुनादं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
उलूखले बद्धमुदारचौर्यं उत्तुङ्गयुग्मार्जुनभङ्गलीलम् ।
उत्फुल्लपद्मायतचारुनेत्रं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ।।
एवं मुकुन्दाष्टकमादरेण सकृत् पठेद्यस्सलभते नित्यम् ।
ज्ञानप्रदं पापहरं पवित्रं श्रियं च विद्यां च यशश्च मुक्तिम् ।।

पुरखों की थाती

उज्ज्वल-गुणम्-अभ्युदितं
क्षुद्रो दृष्टं च कथमपि क्षमते।
दग्ध्वा तनुमपि शलभो
दीपं दीपार्चिषं हरति।।६११।।

– निकृष्ट स्वभाव के लोग दूसरों में महान् गुणों के विकास को देखकर (ईर्ष्यावश) उसे कदापि सहन नहीं कर पाते, उसी प्रकार जैसे कि कीट-पतंगे स्वयं को जलाकर भी दीपक के प्रकाश को बुझाने का प्रयास करते हैं।

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।।६१२।।

– मूर्खों को उपदेश देने से उनका क्रोध शान्त तो होता नहीं, (बल्कि उलटे बढ़ता जाता है), उसी प्रकार जैसे कि सर्पों को दूध पिलाने से उनके विष में वृद्धि ही होती जाती है।।

नृपस्य चित्तं कृपणस्य वित्तम्
मनोरथाः दुर्जन-मानवानाम्।
त्रिया चरित्रं, पुरुषस्य भाग्यम्
देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।।६१३।।

– राजाओं का चित्त, कंजूस की धन-सम्पदा, दुष्ट लोगों का मनोरथ, स्त्रियों का चरित्र और पुरुष का भाग्य – इन (पाँचों) को मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवता तक नहीं जान पाते।

विविध भजन

मैया री मोहिं माखन भावै

सूरदास

मैया री मोहिं माखन भावै ।
मधु मेवा पकवान मिठाई,
मोहिं नहिं रुचि आवै ।।
ब्रजजुबती इक पाछे ठाढ़ी,
सुनति स्याम की बातें ।
मन मन कहति कबहुँ अपने घर,
देखौं माखन खातें ।।
बैठे जाय मथनियाँ के ढिग,
मैं तब रहौं छिपानी ।
सूरदास प्रभु अन्तरजामी,
ग्वालि मनहि की जानी ।।

मोहन ! भूलि गये सब चोरी?

नत्थूलाल चतुर्वेदी

मोहन ! भूलि गये सब चोरी?
कहाँ नन्दजी कहाँ यशोदा,
कहाँ वृषभानु किशोरी?
कबहुँक माँगत दान दही को,
जब तक राज मही को,
नित उठि माखन घर में खायो,
फिर गोपिन घर चोरी ।
नैन चलावत कटि मटकावत,
वन वन गाय चराई,
लौटत माल वैजयन्ती धारी,
मोर मुकुट छबि न्यारी,
वेणु बजावत मग-मग डोले,
बनि हलधर की जोरी ।
देवकी के पूत कहाये,
जसुमति गोद सजाये,
मोरे बनि के आप बिराजे,
कहाँ गई कर जोरी ।
मोहन भूलि गये सब चोरी?

तेरो अद्भुत प्रेम कन्हाई !

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

तेरो अद्भुत प्रेम कन्हाई !
भक्तिवश बन्धन में बँध गयो, ऐसी प्रीति सगाई ।।
माँ यशोदा बाँधन लागी, रस्सी छोटो जाई ।
विकल देखि माँ को कान्हा, रज्जू में बँध जाई ।।
जो ईश्वर सब जग को नचावत, सो बृन्दावन जाई ।
ब्रज-ग्वालिनी छाछ दही दे, नचाई-नचाई थकाई ।।
कालिय नाग के घोर जहर से यमुना गई करियाई ।
नाग नाथि कर मर्दन किन्हा, फणि पर नाचे कन्हाई ।।
दुर्योधन की कुटिल सभा में, जब द्रोपदी टेर लगाई ।
दौड़ि आय प्रभु चिर बढ़ायो, बहन की लाज बचाई ।।
भक्तप्रेम-पाश में पड़कर, रण में चक्र उठाई ।
सखा पार्थ की रक्षा किन्हों, भीष्म की मान बढ़ाई ।।
ज्ञान-योग जप-तप नहिं मेरो, नहिं कछु सेवकाई ।
दो दरशन हिय शान्ति मोहि, भवसागर पार लगाई ।।
लोभ-मोह–मद-क्रोध सबै मिली घेरत चहुँ दिशी आई ।
रक्षा करो हे मुरलीधारी, हूँ तव आस लगाई ।।

हे नाथ क्या ये विनती स्वीकार अब न होगी

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

हे नाथ क्या ये विनती स्वीकार अब न होगी ।
आश्रित पे अनुग्रह की भरमार अब न होगी ।।
पतितों के तारने के किस्से पड़े पुराने ।
क्या इक नई कहानी तैयार अब न होगी ।।
यदि है स्वभाव बदला तो साफ-साफ कह दो ।
हुई बार-बार करुणा इस बार अब न होगी ।।
रहते थे जिसके बस में जो आपको था प्यारा ।
उस प्रेम की भी शायद दरकार अब न होगी ।।
दुख दूर कर दो ताकि राजेश भी ये बोले ।
उपकार मानता हूँ, तकरार अब न होगी ।।

शिकागो के ऐतिहासिक व्याख्यान की १२५वीं वर्षगाँठ

सम्पादकीय

१२५ वर्ष पहले भारत के महान संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका के शिकागो नगर में अपने ऐतिहासिक व्याख्यान से सम्पूर्ण विश्व को विस्मित कर दिया था। बहुत से आचार्यों और धर्मप्रवर्तकों ने अपने सत्संगामृत से जन-समुदाय को सम्बोधित किया और समाज का मार्ग-दर्शन किया, लेकिन कालान्तर में वे अधिकांश काल के गर्भ में चले गये या पुस्तकों के पृष्ठों तक ही सीमित रह गये। स्वामी विवेकानन्द द्वारा शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में प्रदत्त व्याख्यान की १९९३ ई. में सम्पूर्ण विश्व में शताब्दी मनाई गयी थी। अब १२५वीं वर्षगाँठ महोत्सव भी ११ सितम्बर, २०१८ से २७ सितम्बर, २०१९ एक वर्ष तक व्यापक रूप से मनाया जायेगा, जिसमें विविध कार्यक्रम आयोजित होंगे। मन में बारम्बार यह प्रश्न उठता है कि क्या है उस व्याख्यान की विशेषता? क्या उसकी कोई वर्तमान प्रासंगिकता है? क्यों सारा विश्व उस व्याख्यान का बार-बार स्मरण और उस पर चिन्तन-मनन करना चाहता है? यहाँ यही विषय संक्षेपत: विवेचनीय और विश्लेषणीय है।

शिकागो की धर्म-महासभा में स्वामी विवेकानन्द

हमें सबसे पहले विश्वधर्म-सम्मेलन की पृष्ठभूमि का अवलोकन करना होगा कि उसका आयोजन क्यों और किसके द्वारा किया गया? १४९२ में क्रिस्टोफर कोलम्बस ने अमेरिका का अनुसन्धान किया। १८९२ में अमेरिका की गवेषणा के ४०० वर्ष पूर्ण हुये थे। अमेरिकावासियों ने इस चतुर्शताब्दि समारोह को विराट रूप से मनाने की बात सोची। उन्होंने शिकागो की मिशिगन झील के पास एक विशाल मेले का आयोजन किया। यह मेला ६ माह तक चला। इस १५० मील में विस्तृत मेले को पैदल देखने में तीन सप्ताह लग जाते थे। इस मेले का ७२ देश के २ करोड़, सत्तर लाख लोगों ने परिदर्शन किया। इसके आयोजन में २ करोड़ सत्तर लाख डालर व्यय हुए थे। इसमें विज्ञान, तकनीकी, प्रौद्योगिकी आदि की प्रदर्शनी लगाई गयी थी। चार्ल्स केरल बानी की अध्यक्षता में निर्मित समिति 'वर्ल्ड कांग्रेस एग्जिलरी ऑफ कोलम्बियन एक्सपोजिशन' के अन्तर्गत २० अन्य समितियों के द्वारा १५ मई से २८ अक्टूबर, १८९३ तक विभिन्न विषयों – सामाजिक विकास, पत्रकारिता, चिकित्साशास्त्र, मादक वस्तुओं का निषेध, विधि, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और धर्म आदि विषयों पर कार्यक्रम आयोजित हुये। उसी शृंखला में ११ सितम्बर से २७ सितम्बर, १८९३ तक 'सर्वधर्म-सम्मेलन' का आयोजन भी हुआ। इसी विश्वधर्म महा-सम्मेलन में भारत के गौरवशाली हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में स्वामी विवेकानन्द ने भाग लिया था और अपनी प्रवचन-सुधा से सम्पूर्ण जगत को मुग्ध कर दिया था।

हिन्दू धर्म और भारत-गौरव गान

स्वामी विवेकानन्द का प्रथम व्याख्यान विश्व-धर्म-महासम्मेलन में ११ सितम्बर, १८९३ को हुआ था। स्वामीजी द्वारा श्रोताओं को 'अमेरिकावासी बहनो और भाइयो' के सम्बोधन करते ही सभागृह तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा और लगातार ३ मिनट तक तालियाँ बजती रहीं। स्वामीजी के अन्त:करण से उद्भूत उन शब्दों ने सबको हार्दिक ऐक्य की अनुभूति करा दी। इस एकत्व बोध से सबने स्वामीजी के साथ अपनत्व का बोध किया, जिसकी अभिव्यक्ति बहुत देर तक करतल ध्वनि से होती रही। यद्यपि इस दिन की व्याख्यान-अवधि बहुत कम थी, किन्तु स्वामीजी के अल्पावधि व्याख्यान ने उपस्थित जनता के बहुत से भ्रम दूर कर दिये। हिन्दू धर्म और भारत के बारे में कुछ लोग कुप्रचार करते थे। स्वामीजी ने सर्वप्रथम हिन्दू धर्म और भारत की उदारता और महानता का उद्घोष किया – "मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों की ही शिक्षा दी है। हमलोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है। मुझे आपको बतलाते हुये यह गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत आये और हमारी जाति ने उन्हें

छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म का अनुयायी होने में मैं गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अभी तक कर रहा है।'' स्वामीजी ने शिवमहिम्नस्तोत्रम् का एक श्लोक सुनाते हुये कहा –

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

– जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो ! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।

स्वामीजी ने श्रीमद्भगवद्गीता का उद्धरण देते हुये कहा –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

– जो कोई मेरी ओर आता है, चाहे वह किसी प्रकार से हो, मैं उसे प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग से प्रयत्न करते हुये अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।''

धार्मिक मतभेदों का खण्डन

स्वामीजी ने १५ सितम्बर, १८९३ के व्याख्यान में परस्पर धार्मिक मतभेद को दूर करने हेतु एक मेढक की कहानी सुनाई थी, जिसका सारांश प्रस्तुत है – एक कुएँ में बहुत समय से एक मेढक रहता था। वह वहीं जन्मा और बड़ा हुआ। वह खा-पीकर मोटा हो गया। एक दिन एक समुद्री मेढक उस कुँए में गिर गया। उसे देखकर वहाँ के मेढक ने पूछा – ''तुम कहाँ से आये हो?'' ''मैं समुद्र से आया हूँ।'' समुद्री मेढक ने उत्तर दिया। ''समुद्र! कितना बड़ा है वह? क्या वह मेरे कुएँ जितना बड़ा है?'' इतना कहकर उसने कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी। समुद्री मेढक ने कहा – ''मेरे मित्र ! समुद्र की तुलना इस छोटे-से कुँए से कैसे कर सकते हो?'' तब उस कुँए के मेढक ने एक दूसरी छलांग मारी और पूछा, ''तो क्या तुम्हारा समुद्र इतना बड़ा है?'' समुद्री मेढक ने कहा, ''तुम कैसी मूर्खतापूर्ण बातें कर रहे हो ! क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुँए से हो सकती है?'' तब कुएँ के मेढक ने कहा, ''जा, जा! मेरे कुँए से बढ़कर दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा दूसरा कुछ नहीं है ! झूठा कहीं का ! अरे, इसे पकड़कर बाहर निकाल दो !'' स्वामीजी ने इस कहानी से समझाया कि हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि अपने छोटे-से कुँए में बैठकर यही समझते हैं कि उनका कुँआ ही सारा संसार है। अतः उन्होंने सभी धर्मावलम्बियों को अपनी संकीर्णता को छोड़कर समुद्र सदृश उदार होकर सबसे प्रेम करने का सन्देश दिया।

मानव के दिव्य स्वरूप की उद्घोषणा

१९ सितम्बर, १८९३ को स्वामीजी ने 'हिन्दू धर्म पर निबन्ध' पढ़ा था। उसमें स्वामीजी मानव के मूल दिव्य स्वरूप और स्वाभिमान को जाग्रत करते हुये कहते हैं – ''मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानव स्वरूप पर घोर लांछन है। उठो ! आओ ! हे सिंहो ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो। तुम तो अमर, नित्य, आनन्दमय, मुक्त आत्मा हो ! तुम जड़ नहीं हो, शरीर नहीं हो, जड़ तुम्हारा दास है, तुम जड़ के दास नहीं हो।''

मूर्तिपूजा का वैशिष्ट्य

''भारतवर्ष में मूर्तिपूजा निन्दनीय नहीं है। वह अविकसित मन के लिये उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। ...हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं, वह सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर जा रहा है।''

२० सितम्बर, १८९३ के व्याख्यान में स्वामीजी ने कहा कि भारत को धर्म की आवश्यकता नहीं है, उनके पास धर्म पर्याप्त है। २६ सितम्बर को स्वामीजी ने बौद्ध धर्म पर व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा कि शाक्य मुनि ध्वंस करने नहीं आये थे, वे हिन्दू धर्म की पूर्णता के सम्पादक थे, उसकी स्वाभाविक परिणति और युक्तिसंगत विकास थे। उनका हृदय विशाल था। उन्होंने वेदों में छिपे सत्य को निकालकर सम्पूर्ण संसार में विकीर्ण कर दिया। सर्वभूतों के प्रति, विशेषकर अज्ञानी तथा दीनों के प्रति अद्भुत सहानुभूति में ही तथागत का महान गौरव है।

२७ सितम्बर, १८९३ के समापन अवसर पर स्वामीजी ने कहा – '' ... शीघ्र ही सारे प्रतिरोधों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह स्वर्णाक्षरों में लिखा होगा – 'सहायता करो, लड़ो मत।' 'परभाव ग्रहण करो, परभाव का विनाश नहीं' 'समन्वय और शान्ति हो, मतभेद और कलह नहीं !''' इस प्रकार स्वामीजी के शाश्वत सन्देशों ने विश्व को एक नई दिशा दी और दे रही है, जिसके कारण आज जगत उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण कर रहा है। ○○○

मुण्डक-उपनिषद् व्याख्या (२)

स्वामी विवेकानन्द

(१८९६ ई. के जनवरी में अमेरिका के न्यूयार्क नगर में स्वामीजी के 'ज्ञानयोग' विषयक व्याख्यानों की एक शृंखला का आयोजन किया गया था। २९ जनवरी को उन्होंने 'मुण्डक-उपनिषद्' पर चर्चा की थी। यह व्याख्यान उनके एक अंग्रेज शिष्य श्री जे. जे. गुडविन ने लिपिबद्ध कर रखा था। परवर्ती काल में इसे स्वामीजी की अंग्रेजी ग्रन्थावली के नवें खण्ड में संकलित तथा प्रकाशित किया गया। सैन फ्रांसिस्को की प्रव्राजिका गायत्रीप्राणा ने स्वामीजी के सम्पूर्ण वाङ्मय से इससे जुड़े हुए अन्य सन्दर्भों को इसके साथ संयोजित करके 'वेदान्त-केसरी' मासिक और बाद में कलकत्ते के 'अद्वैत-आश्रम' से ग्रन्थाकार में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' के पूर्व-सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने इसका अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करके इसे धारावाहिक रूप से प्रकाशन हेतु प्रस्तुत किया है – सं.)

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।१.२.१२।।

इस प्रकार साधक भले तथा बुरे कर्मों के लिए होने वाली समस्त इच्छाओं की परीक्षा करते हुए समस्त कर्तव्यों का परित्याग करके उस तत्त्व को जानने की इच्छा करते हैं, जिसकी उपलब्धि होने के बाद [आत्मा में] कोई परिवर्तन और [संसार में] फिर लौटना नहीं होता; और उसे जानने हेतु वह हाथ में ईंधन-काष्ठ लिए हुए गुरु के पास जाता है।

हमारे देश की पौराणिक कथाओं में लिखा है कि चूँकि गुरु कोई उपहार स्वीकार नहीं करते, अत: उनके यज्ञ अनुष्ठानों में सहायक होने की इच्छा प्रदर्शित करते हुए शिष्य अपने हाथों में काष्ठ लेकर जाता है। गुरु कौन हो सकते हैं? वे, जो शास्त्रों के रहस्य को जानते हैं, जिनकी अन्तरात्मा ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो चुकी है और जो कर्मों या स्वर्गवास या इन सारी चीजों की परवाह नहीं करते।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त-चित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।१.२.१३।।

ऐसा शिष्य, जिसने अपने मन को संयमित कर लिया है, जो शान्त हो गया है, जिसने कामनाओं को त्याग दिया है। ('मैं यह करूँगा, वह करूँगा' – और नाम-यश आदि से जुड़ी वे सारी इच्छाएँ जो चित्त को केवल क्षुब्ध किया करती हैं, और जो मनुष्य मात्र को हर तरह के कार्य हेतु प्रेरित करती रहती हैं) – जिस शिष्य की ये सभी कष्टदायी कामनाएँ शान्त हो चुकी हैं, उसे गुरु उस ब्रह्मविद्या की शिक्षा देते हैं, जिसके द्वारा शिष्य उस तत्त्व को जान लेता है, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं आता और जो सत्य-स्वरूप है।[1]

१. Complete Works, खण्ड ९, पृ. २३६

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

इसके बाद वे उपदेश आते हैं, जिनकी शौनक ने [अंगिरस को] शिक्षा दी थी –

तदेतत् सत्यं
यथा सुदीप्तात्-पावकाद्-विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्-विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।।२.१.१।।

हे सौम्य, सत्य यह है कि जैसे धधकती हुई आग की ज्वालाओं से अग्नि के स्वरूप वाली ही असंख्य चिनगारियाँ प्रकट होती हैं; उसी प्रकार इस अक्षर ब्रह्म से ही सारे रूप, ये सारे भाव तथा यह सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और वापस उसी में विलीन हो जाती है।[2]

अपरिवर्तनशील ब्रह्म ही ब्रह्माण्ड में रूपान्तरित हो गया है। वह इस ब्रह्माण्ड का उपादान कारण ही नहीं, अपितु निमित्त कारण भी है। 'कारण' कभी अपने 'कार्य' से भिन्न नहीं होता; कार्य एक भिन्न रूप में प्रकट होनेवाला कारण ही है। इसे हम अपने प्रतिदिन के जीवन में देखते हैं। ... कांच की उत्पत्ति – उत्पादक द्वारा उपयोग में लाये गये कुछ पदार्थों तथा कुछ शक्तियों के संयोग से होती है। कांच में उन पदार्थों तथा शक्तियों का योग है। जिन शक्तियों का प्रयोग हुआ है, वे शक्तियाँ जोड़ने की शक्ति बन गई हैं; और यदि वह शक्ति चली जाय, तो कांच बिखरकर चूर-चूर हो जाएगा, यद्यपि वे पदार्थ निश्चित रूप से उस कांच में हैं। केवल उनके रूप में परिवर्तन होता है। कारण ने कार्य का रूप धारण किया है। जो भी कार्य दिखे, उसका तुम कारण के रूप में विश्लेषण कर सकते हो। कारण ही कार्य रूप में अभिव्यक्त होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि परमात्मा इस ब्रह्माण्ड का कारण है और ब्रह्माण्ड कार्य है, तो परमात्मा ही

२. Complete Works, खण्ड ९, पृ. २३७

ब्रह्माण्ड बन गया है।[३] वेदान्त के जितने विभिन्न रूप अथवा स्तर हैं – द्वैत, विशिष्टाद्वैत या अद्वैत – सबका यही प्राथमिक सिद्धान्त है कि परमात्मा इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं, अपितु इसका उपादान कारण भी है; इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, सब वही है।

वेदान्त का दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक आत्मा भी परमात्मा का अंश है – उसी अनन्त अग्नि की एक चिनगारी है।... अनन्त के अंश का क्या अर्थ है? अनन्त अविभाज्य है, अत: उसके अंश हो ही नहीं सकते। पूर्ण वस्तु का विभाजन असम्भव है। तो फिर यह क्यों कहा गया कि सभी आत्माएँ परमात्मा से निकली चिनगारियाँ हैं? अद्वैतवादी यह कहकर इस समस्या का समाधान करते हैं कि वस्तुत: पूर्ण का अंश नहीं होता; प्रत्येक आत्मा – ब्रह्म का अंश नहीं, यथार्थत: अनन्त ब्रह्मस्वरूप है।

तो फिर इतनी सारी आत्माएँ कैसे हो सकती हैं? जब करोड़ों जलकणों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो वे करोड़ों सूर्यों के समान प्रतीत होते हैं; प्रत्येक जलकण सूर्य का एक छोटा-सा चित्र प्रस्तुत कर रहा है। इसी प्रकार, ये सब आत्माएँ वास्तविक नहीं, अपितु प्रतिबिम्ब मात्र हैं। उनकी 'अहंता' वास्तविक नहीं, अपितु इस ब्रह्माण्ड के ईश्वर अर्थात् अखण्ड ब्रह्म की है। और ये मनुष्य, पशु आदि सारे छोटे-छोटे विभिन्न प्राणी – वास्तविक नहीं, अपितु उनके प्रतिबिम्ब मात्र हैं। ये प्रकृति के ऊपर आरोपित भ्रान्तिकारक प्रतिबिम्ब मात्र हैं।[४]

इस संसार में केवल एक ही अनन्त सत्ता विद्यमान है; और वही 'तुम' और 'मैं' के रूप में प्रतिभात होती है। तुम तथा मैं और सारी दृश्यमान चीजें – क्या हैं? – मात्र इन्द्रजाल या सम्मोहन। सत्ता केवल एक है; और वह अनादि-अनन्त तथा चिर-मंगलमय है। उसी सत्ता में हम ये सारे सपने देखते रहते हैं। एकमात्र अनन्त आत्मा ही इन सबके परे – ज्ञात के परे और ज्ञेय के भी अतीत है। हम इस ब्रह्माण्ड को उसी से ओतप्रोत देखते हैं। वही एकमात्र सत्य है। वही 'सत्ता' यह मेज है, वही मेरे समक्ष श्रोताओं के रूप में है, वही दीवार है और वही नाम-रूप से रहित सत्ता – यह सब कुछ है। मेज में से 'नाम' और 'रूप' को हटा दो – जो बचेगा, वही वह 'सत्ता' है।

वेदान्ती उस सत्ता में नर-मादा का भेद नहीं मानते – ये भेदभाव तो मानव-मस्तिष्क से उपजी कल्पनाएँ हैं, भ्रान्तियाँ मात्र हैं। आत्मा में कोई लिंगभेद नहीं। भ्रान्ति में पड़े हुए लोग पशुतुल्य होकर नर या नारी देखते हैं; परन्तु देवतुल्य लोग नर-नारी का भेद नहीं देखते। जो लोग इन समस्त प्रपंचों के परे जा चुके हैं, उनके मन में भला लिंगभेद कैसे आ सकता है? (उनके लिये तो) प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु वह विशुद्ध आत्मा ही है, जो निर्लिंग, पवित्र तथा चिर मंगलमय है। केवल नाम, रूप तथा शरीर ही भौतिक पदार्थों से बने हैं; और उन्हीं से इन सारी विचित्रताओं की अनुभूति होती है। यदि तुम इन 'नाम-रूप' के भेदों को हटा दो, तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक (और अखण्ड) है। 'दो' का कोई अस्तित्व नहीं, बल्कि सर्वत्र 'एक' है। तुम और मैं 'एक' हैं।[५]

भेदभाव की यह अनुभूति एक मिथ्या भ्रान्ति मात्र है। ब्रह्म या परमात्मा – विभाजित नहीं हो सकता, बल्कि विभाजित जैसा प्रतीत मात्र होता है। देश-काल-निमित्त के जाल के माध्यम से उस सत्ता को देखने पर उसमें आभासमान (मिथ्या) भेदों की अनुभूति होती है। जब हम परमात्मा को देश-काल-निमित्त के जाल से देखते हैं, तब वह हमें जड़ जगत् के रूप में दिखता है – और जब हम उसी जाल के भीतर से उसे थोड़ी उच्चतर भूमि से देखते हैं, तब उसे पशु के रूप में – थोड़े और उच्चतर भूमि से मनुष्य के रूप में देखते हैं – थोड़े और उच्चतर भूमि से देवता के रूप में देखते हैं – तथापि वही ब्रह्माण्ड की एकमात्र अनन्त 'सत्ता' है और वह सत्ता 'हम' हैं। मैं वही हूँ और तुम भी वही हो – उसके अंशरूप में नहीं, सम्पूर्ण रूप में।[६]

जो व्यक्ति दिन-रात स्वयं को निकम्मा समझता रहता है, उसके द्वारा कुछ भी भला कार्य नहीं हो सकता। यदि तुम दिन–रात स्वयं को दीन-हीन और नाचीज सोचते रहो, तो तुम सचमुच ही नाचीज बन जाओगे। (परन्तु) यदि तुम कहो कि 'मैं सर्व-शक्तिमान हूँ', तो तुम वैसे ही हो जाओगे; और यदि सोचो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ', दिन-रात यही सोचते रहो कि तुम 'कुछ नहीं' हो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नहीं' हो जाओगे। यही वह महान सत्य है, जो तुम्हें सदैव याद रखना चाहिए। हम लोग उसी सर्व-शक्तिमान परमात्मा की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – हम भला 'कुछ नहीं' कैसे हो सकते हैं? हम 'सब कुछ' हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं; और निश्चित रूप से हमें सब कुछ करना होगा। आत्मविश्वास को खोने का अर्थ है – परमात्मा में अश्रद्धा।[७] **(क्रमश:)**

३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ८९
४. वही, खण्ड ८, पृ. ६८
५. वही, खण्ड २, पृ. २११
६. वही, खण्ड ८, पृ. ६८-६९
७. वही, खण्ड ५, पृ. २६७
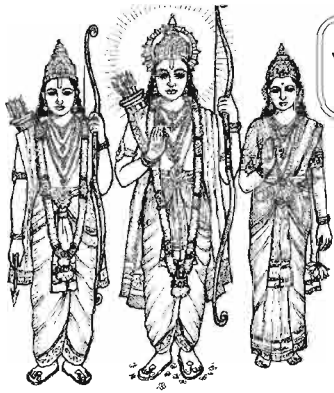
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (५/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है । – सं.)

गुरु और वैद्य, दोनों की भूमिका एक ही है। गुरु की बात पर विश्वास न हो, तो साधक साधन पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। वैद्य की बात को भी व्यक्ति अगर तर्क और बुद्धि से काटने लगे, तो उसकी बात का खण्डन करके वह मृत्यु को अपने लिए आमंत्रित कर सकता है। अब वहाँ लंका की समस्या यही थी। भगवान राम वैद्य पर कितना विश्वास करते हैं ! जो बात सुषेण वैद्य ने कही, कोई भी साधारण से साधारण नीतिज्ञ भी उसको अच्छी दृष्टि से न देखता। सुषेण वैद्य लाए गये और सुषेण वैद्य ने यह कहा कि लक्ष्मण को जीवित करने के लिये औषधि चाहिए। हनुमानजी तो सुषेण वैद्य को घर सहित उठाकर ले गये थे। हनुमानजी का तात्पर्य यह था कि वैद्य के साथ पूरा औषधालय उठा ले चलें, जिसमें वैद्यजी को जिस औषधि की आवश्यकता होगी, उसे औषधालय से निकाल कर दे देंगे। पर वैद्यराज ने तो कह दिया कि वह दवा तो द्रोणाचल पर्वत पर है। उसके साथ यह शर्त भी लगा दी कि वह दवा भी तब काम करेगी, जब सूर्य के उदय से पहले आ जाये। अब सोचिए, भगवान राम के स्थान पर कोई भी दूसरा व्यक्ति होता, तो वह यही सोचता कि यह टाल-मटोल करने की चेष्टा कर रहा है, यह शत्रु का वैद्य है, इसीलिए यह ऐसी बात बता दे रहा है कि न तो यह सम्भव होगा और न लक्ष्मण के प्राण बचेंगे और वह कलंक से बच भी जायेगा। रावण पूछेगा कि तुमने शत्रु को जीवन दान क्यों दिया? वह तो यही कहेगा। पर भगवान श्रीराम मानते हैं कि जब वैद्य ने कहा है, तो वह बिल्कुल ठीक है।

सदगुर बैद बचन बिस्वासा। ७/१२१(ख)/६

सचमुच आप देखेंगे कि हनुमानजी को औषधि लाने के लिये भेजा गया, सूर्योदय से पहले औषधि आ गई और लक्ष्मणजी के प्राण की रक्षा हुई। भगवान राम इतना महत्त्व देते हैं, इतना विश्वास करते हैं वैद्य पर! आप कल्पना कीजिए कि मेघनाद मूर्छित हो गया होता और वैद्य कह देता कि औषधि तो द्रोणाचल पर्वत पर है और वह सूर्योदय से पहले आ जायेगी, तभी मेघनाद बचेगा, नहीं तो मर जायेगा, तो पहले तो रावण वैद्य की ही खबर लेता कि दवा पहले से मँगाकर क्यों नहीं रखते?

लक्ष्मणजी निरन्तर भगवान श्रीराम के साथ रहते हैं। ज्ञान और भक्ति का अनुगमन करते हुए वैराग्य के रूप में दोनों की सेवा में नियुक्त हैं। उनकी भूमिका यही है। इसका अभिप्राय है कि वैराग्य के द्वारा ज्ञान की भी रक्षा होती है। उसे यों कह सकते हैं कि वैराग्य अगर न हो, तो ज्ञान की सार्थकता जीवन में नहीं है। रामायण में वह व्यंग्य आया न, जब धनुष तोड़ने के लिए राजा लोग उठे, तो उस समय धनुष तोड़ने में सभी राजा असफल हो गये। जब असफल हो गये, तो गोस्वामीजी ने एक व्यंग्य भरा वाक्य लिखा। क्या लिखा?

सब नृप भए जोगु उपहासी।
जैसें बिनु बिराग संन्यासी।। १/२५०/३

सभी राजा उपहास के पात्र हो गये, जैसे संन्यासी वैराग्य विहीन हो। संन्यास लेने का तो अर्थ ही यही है कि जब वह सांसारिक वस्तुओं को छोड़कर आया होगा, तभी तो संन्यास ग्रहण किया होगा। यदि वस्तुओं को छोड़कर आने के बाद भी उन वस्तुओं के प्रति उसके जीवन में राग बना रह जाय, तो यही लगेगा कि इसके संन्यास का क्या तात्पर्य है? राजा मानो जब श्रीसीताजी को प्राप्त करने के लिये आ गए, तो इसका अभिप्राय यह दिखाई दे रहा है कि इस समय तो अपने राज्य को अपनी भूमि को छोड़कर आए हुए हैं, पर व्यंग्य यह है कि ये तो वैराग्यहीन संन्यासी की तरह हैं। क्योंकि अगर श्रीसीताजी भक्ति हैं, तो भक्ति के लिये तो वैराग्य की अपेक्षा है। अगर श्रीसीताजी शान्ति हैं, तो शान्ति भी बिना वैराग्य के प्राप्त नहीं होती है। सीताजी

को तो वही व्यक्ति सच्चे अर्थों में पा सकता है, सुरक्षित रख सकता है, जिसके जीवन में वैराग्य है। इसलिये वैराग्य की अनिवार्यता वहाँ पर भी दिखायी देती है। इसी प्रकार से सुग्रीव हैं। यद्यपि उनका ज्ञान अखंड नहीं है, तथापि उनके लिए गोस्वामीजी ने एक बड़ा सार्थक दृष्टान्त दिया कि सुग्रीव को ज्ञानी कैसे कह दें? उन्होंने कहा कि एक ऐसी कल्पना करें कि ऐसा सूर्य जो निरन्तर प्रकाशवान है, प्रकाशित करता रहता है, जिसमें कभी भी प्रकाश छोड़कर और कुछ न हो। वह सूर्य हमें दिखाई देता है। वह स्वयं तो प्रकाशमय है, परन्तु इतना होते हुए भी अगर आँधी आ जाय, धूल आकाश में छा जाय, मेघ आकाश में छा जाय, तो सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देगा। जीव के ज्ञान को भगवान राम ने यही दृष्टान्त दिया –

कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाई कुसंग सुसंग।। ४/१५(ख)

सूर्य नष्ट तो नहीं होता, पर वह बादल के कारण, धूल के कारण, दिखाई नहीं देता। यही जीव की समस्या है। वहाँ भी सूत्र वही है। अखण्ड ज्ञानस्वरूप भगवान राम के साथ भी वैराग्य है, वह सर्वत्र है। लीला में भगवान राम यह बताना चाहते हैं कि वैराग्य तो सदैव सर्वत्र साथ में है। जब वे पुष्पवाटिका में जाते हैं, जहाँ शुद्ध शृंगार की लीला है, तो वहाँ पर भी वैराग्य के रूप में लक्ष्मण उनके साथ हैं। शृंगार के सन्दर्भ में तो व्यक्ति राग लेकर जाता है। राग और शृंगार का सम्बन्ध है। पर प्रभु विराग लेकर जाते हैं। श्रीसीताजी से प्रभु को वियोग हुआ। उस वियोग के बाद प्रभु ने विलाप किया। प्रभु का विलाप वास्तविक नहीं है, श्रीसीताजी का हरण भी वास्तविक नहीं है, किन्तु इतना होते हुए भी प्रभु श्रीसीताजी के जीवन से बताना यह चाहते थे कि जो होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। प्रभु भी अपने चरित्र के द्वारा यह दिखाते हैं। उसे दिखाने का उद्देश्य था कि लीला में भक्ति भी संकटग्रस्त हो सकती है और ज्ञान भी संकटग्रस्त हो सकता है, किन्तु तत्त्वत: नहीं। ज्ञान संकटग्रस्त कब हुआ और भक्ति संकटग्रस्त कब हुई? जब श्रीसीताजी ने स्वर्णमृग को देखा और देखने के बाद भगवान राम से यह कहा कि महाराज, यह सोने का मृग बड़ा ही सुन्दर है, आप इसे ला दीजिए। यद्यपि गोस्वामीजी ने इसे संभाल कर कह दिया, जिनको मिथिला और अयोध्या का वैभव, स्वर्ण और भोग भी आकृष्ट नहीं कर पाया, क्या श्रीसीताजी के मन में कभी प्रलोभन हो सकता है? पर भगवान राम ने तो सीताजी से एकान्त में कह दिया था कि अब आज से आपको जो लीला करनी है, वह लीला तो बड़ी ही कठिन है, कष्टकारी है, आपके और मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है, किन्तु इतना होते हुए भी लोककल्याण के लिये यह आवश्यक है कि वह नाटक खेला जाय। एक पक्ष – संसार के सामने ज्ञान-वैराग्य-भक्ति की महिमा रख दी गई, पर दूसरा पक्ष रखना आवश्यक है कि इसकी विपरीत स्थिति कब होती है। तब उन्होंने श्रीसीताजी से यही कहा कि जब रावण स्वर्णमृग भेजेगा, तो आपको यह कहना है कि स्वर्णमृग बड़ा सुन्दर है। सीताजी व्याकुल हो गईं, मैं यह कहूँ कि मृग बड़ा सुन्दर है? प्रभु ने कहा, वह मैं जानता हूँ, पर अभिनय तो अभिनय है, नाटक तो नाटक है। आपको यही करना है। उन्होंने कहा, तो लीला में कामना उत्पन्न हो गई, लोभ उत्पन्न हो गया। प्रभु से उन्होंने कह दिया कि आप उसे ला दीजिए। इसमें क्या नई बात हो गई? यदि प्रभु चाहते, तो उनके पास वह बाण था, जो जयन्त के पीछे उन्होंने लगा दिया था। वे वहीं से बैठे-ही-बैठे चाहते, तो मारीच को मार देते। वह क्या कर सकता था। नहीं तो मारीच के पीछे बाण ही लगा देते, जैसे जयन्त के पीछे लगा दिया था। पर प्रभु ने ऐसा नहीं किया। तुरन्त उसको मारा भी नहीं, उसके पीछे बाण भी नहीं लगाया, प्रभु स्वयं उसके पीछे भागे। अभी तक भगवान राम और श्रीसीताजी अत्यन्त निकट बैठे हुए थे। पर जब श्रीसीताजी ने कहा कि स्वर्णमृग सुन्दर है, तो प्रभु ने कहा कि अब उस सुन्दर को पाने के लिये तो मुझे आपसे दूर होना ही पड़ेगा। मानो जब हमारे जीवन में कामना और प्रलोभन उत्पन्न होता है, तो ईश्वर जीवन से दूर चला जाता है। वे दूसरा नाटक स्वयं भी करना चाहते थे। क्या? मृग कौन है? मायामृग है। बड़े आश्चर्य से गोस्वामीजी ने लिखा –

निगम नेति सिव ध्यान न पावा।
मायामृग पाछें सो धावा।। ३/२६/११

माया के आगे रहने वाला ब्रह्म आज माया के पीछे दौड़ रहा है। प्रभु मानो बताना चाहते हैं कि भक्ति में भी कामना आयेगी, प्रलोभन आयेगा। ईश्वर को छोड़कर जब हम ईश्वर से किसी वस्तु को माँगे, तो इसका अर्थ है कि ईश्वर की अपेक्षा हम उस वस्तु को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते होंगे, तभी तो माँग रहे हैं। भगवान कहते हैं कि ठीक है, कोई वस्तु अगर मुझसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, तो वह वस्तु लो, मैं दूर जा रहा हूँ।

दूसरी ओर संकेत था, जाते-जाते भी प्रभु लक्ष्मणजी को क्या कह गये? प्रभु का तात्पर्य यह था कि एक बार ज्ञान और भक्ति भी अगर संकट में पड़ जाय, पर वैराग्य बना रहे, तो वह सुरक्षित रहता है। यह बहुत बड़ा सूत्र है। इसलिये प्रभु ने कहा – लक्ष्मण तुम यहीं रहना। मैं यह कैसे कहूँ कि मैं माया के पीछे दौड़ रहा हूँ, तो तुम भी दौड़ो। वह वैराग्य ही कैसा जो माया के पीछे दौड़े ! प्रभु को तो नाटक में दौड़ना था, इसलिये वे दौड़ रहे थे। साथ-साथ वे आगे की भूमिका तैयार कर रहे थे। वही हुआ भी। वैराग्य प्रहरी है, रक्षक है। श्रीराम के दूर चले जाने पर भी अगर लक्ष्मणजी वहाँ रहते, तो श्रीसीताजी का हरण हो ही नहीं सकता था। रावण में हरण करने की सामर्थ्य नहीं है। पर योजनाबद्ध रूप से प्रभु मारीच के पीछे भागे। दूर जाकर मारीच पर प्रहार किया। प्रहार करने पर वह राक्षस के रूप में सामने आ गया। जैसे प्रतापभानु भी मृग के पीछे दौड़ा था, तो वह तो स्वयं ही राक्षस बन गया। मानो संकेत यह है कि जिन वस्तुओं को हम बड़ा आकर्षक मानकर स्वयं उसके पीछे दौड़ते हैं, वे वैसी नहीं होती हैं।

अगर हम भगवान से भी सांसारिक वस्तु को मांगेंगे, तो वे वस्तुएँ जैसी दिखती हैं, वैसी हैं नहीं । वे दिखाई देती हैं आकर्षक, पर जब बाण लगता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि जो समझकर हम उसको पाने के लिए दौड़ते हैं, वे वैसी नहीं हैं। संसार में अनगिनत व्यक्ति जिन वस्तुओं को पाने के लिए दौड़ रहे हैं या तो वे वस्तुएँ पूरी तरह मिल नहीं पाती हैं और मिलती है, तो हम जो सोचते हैं कि इसके मिल जाने पर न जाने क्या हो जाएगा, वैसा नहीं होता। अधिकांश व्यक्तियों को यह अनुभव होता है कि किसी वस्तु को पाने के पहले जो कल्पना उसके बारे में रहती है, वह पाने के बाद नहीं रह जाती और पाने के बाद उसे लगता है कि नहीं, नहीं अभी तो और पाना है।

मारीच पर बाण का प्रहार हुआ। मारीच ने लक्ष्मणजी का नाम लेकर पुकारा। श्रीसीताजी ने कहा, तुमने सुना नहीं, तुम्हारे भाई के ऊपर संकट आया हुआ है। लक्ष्मणजी हँसने लगे। हँसने क्यों लगे? कोई संकट में पड़ा हो, सहायता के लिए पुकार रहा हो और सुनकर कोई हँसने लगे, तो लक्ष्मणजी के हँसने का तात्पर्य यह था कि आज तो जो कुछ हो रहा है, वह तो मेरी बुद्धि से परे है। आज तक मैंने संसार के समस्त जीवों को प्रभु के पीछे भागते देखा था, पर प्रभु माया के पीछे भागे, यह कभी देखा नहीं था। आज तक मैंने सुना था कि जीव जब संकट में पड़ता है, तो भगवान रक्षा करते हैं और आज सुनने को मिल रहा है और वह भी भक्ति देवी से कि भगवान संकट में पड़े हैं और जीव जाकर उनकी रक्षा करे। अब मैं हँसू नहीं, तो क्या करूँ? क्रोध आ गया श्रीसीता जी को। उन्होंने ऐसा अमर्यादित वाक्य कहा, जिसे तुलसीदासजी ने लिखना स्वीकार ही नहीं किया और सफाई भी दे दी। क्या इतना अनुचित वाक्य श्रीसीताजी बोलीं? गोस्वामीजी को तुरन्त कहना पड़ा। माँ को दोष न दीजिएगा। यह उनसे कहलवाया जा रहा है। तुलसीदास जी ने जिस शब्द का प्रयोग किया, वह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध लगता है। लिखा हुआ है –

मरम बचन जब सीता बोला। ३/२७/५

रामायण के सबसे पहले संम्पादक थे, हमारे ज्वाला प्रसादजी। उन्होंने रामायण में बड़ा संशोधन किया। दुर्भाव से नहीं किया। पण्डित थे, तो जहाँ-जहाँ उन्हें लगता था कि तुलसीदासजी कोई भूल कर बैठे हैं, तो उनके सम्मान की रक्षा के लिए उन शब्दों को बदलकर दूसरा लिख दिया। वे गोस्वामीजी के शब्दों के उस रहस्य से परिचित नहीं थे। वे शब्द बुद्धि से नियोजित नहीं है। साधारण कवि सरस्वती को निमन्त्रण देता है और सरस्वतीजी कवि की प्रार्थना सुनकर आती हैं और उसे शक्ति देती हैं। पर भक्त होना अलग बात है। वह सरस्वती देवी को निमन्त्रण नहीं देता। अभी हम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज से गुणों के सन्दर्भ में सूत्र सुन रहे थे। इसका अभिप्राय यह है कि अगर हम गुणों को आमन्त्रित भी करें, तो एक समस्या है कि गुण आते बड़ी कठिनाई से हैं। सीधी-सी बात है कि किसी को आप निमन्त्रण देकर बुलाते हैं, तो उसका आपको पूरा ध्यान रखना पड़ता है। नहीं तो रुष्ट होते देर नहीं लगेगी। वह कहेगा, आपने मुझे निमन्त्रण देकर बुलाया और अपमान कर रहे हैं। यदि गुणों को निमन्त्रण देते हैं, तो उनका दिन-रात पूरा ध्यान भी रखिए कि वे कहीं रूठ न जायँ। कुछ आमन्त्रित अतिथि इतने अधिक अभिमानी होते हैं कि वे कब रूठकर चले जायेंगे, इसका कोई ठिकाना नहीं है। संसार में भी यही नियम है। गुण तो अभिमानी होंगे ही। क्योंकि उनमें विशेषता है और जरा-सी भी भूल आपने की, तो वे कहेंगे, हम चले। जब बिना निमन्त्रण के कोई स्वयं आ जाय, तो जो व्यवहार आप उसके साथ करते हैं, उसे वे स्वीकार करें। अगर वह जाता है, तो चला जाय, उसको हमने बुलाया है क्या?

अब बेचारे कवि को तो सरस्वती देवी को बुलाने के

लिये निमन्त्रण देना पड़ता है। तुलसीदासजी ने कवियों से कहा कि याद रखिए, जब सरस्वतीजी आयें, तो तुरन्त उनसे यह न कहिए कि हमें कविता बनाने में सहायता कीजिए। कोई आपके निमन्त्रण पर आये, तो पहले आप कहेंगे कि आप स्नान कर लीजिए, भोजन कर लीजिए, विश्राम कर लीजिए और तब बाद में काम की बात करिये। गोस्वामीजी ने कहा कि सरस्वतीजी जब ब्रह्मलोक से दौड़ी हुई आयेंगी, तो सोचिए, वे कितना थक गई होंगी। पहले जरा उनको स्नान आदि कराइए, भोजन कराइए, उसके बाद कविता में उनकी सहायता लीजिए। जब कोई व्यक्ति सरस्वती को बुलाता है, तब उन्होंने बड़ी मीठी बात कही –

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवति धाई।।
राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ।
सो श्रम जाहि न कोटि उपाएँ।। १/१०(ख)/४-५

गोस्वामीजी कहते हैं कि सरस्वतीजी दौड़कर आई हैं। थक गई हैं। उन्हें नहलाइए। कहाँ नहलाएँ? पहले उनको श्रीराम के चरित्र के सरोवर में नहलाइए। जब वे राम के चरित्र को, गुण को सुनकर विश्राम पा लें, तब उनसे कहिए कि ऐसी शक्ति दीजिए कि मैं कविता का निर्माण करूँ। किसी ने कह दिया कि कई कवि तो बिल्कुल राम चरित्र में नहीं नहलाते। आजकल तो रावण चरित्र में भी स्नान कराने की परम्परा बन गई है। लोग यह समझते हैं कि जिसको सब लोगों ने अच्छा कहा, लिखा, हमने भी वही कहा, तो मेरी क्या विशेषता है? तो अपनी विशेषता लिये हुये किसी ने कहा कि यह आवश्यक तो नहीं कि सरस्वतीजी के आगमन होने पर सब लोग राम का ही गुण गावें। अगर कोई व्यक्ति स्नान न करावे और कविता करे तो इस पर गोस्वामीजी व्यंग्य करते हुये लिखते हैं –

सिर धुनि गिरा लगत पछिताना। १/१०(ख)/७

उस कविता का जब पाठ किया जाता है, उसको गाया जाता है, तो सरस्वतीजी सिर पीट लेती हैं। जो ध्वनि होती है, वह क्या है? वह कविता नहीं, सरस्वतीजी का सिर पीटना ही तो है। सरस्वतीजी सिर पीट लेती हैं कि किस मूर्ख के पाले पड़ गई। मेरा उपयोग यह सांसारिक वस्तुओं के निरूपण में कर रहा है। **(क्रमशः)**

बीती बातें बीते पल

स्वामी त्यागीशानन्द और शास्त्र-अध्ययन

स्वामी त्यागीशानन्द जी महाराज अपने त्यागमय जीवन के साथ-साथ प्रकाण्ड विद्वत्ता के लिए भी प्रसिद्ध थे। वे श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज के शिष्य थे। स्वामी त्यागीशानन्द जी को हिन्दू ग्रन्थों के अलावा पाश्चात्य दर्शन का भी समुचित ज्ञान था। अपने कमरे में उन्हें सदैव घण्टों भर स्वाध्याय में निमग्न देखा जाता था। बेंगलोर आश्रम में वे साधु-ब्रह्मचारियों के लिए शास्त्र पर कक्षाएँ लेते थे। महाराज जो कोई भी विषय सिखाते, उसमें गहराई में चले जाते। वे चाहते थे कि साधु-ब्रह्मचारी शास्त्र-ग्रन्थों को अच्छी तरह आत्मसात् करें । ग्रन्थ को पूर्ण कराना उनका उद्देश्य नहीं होता था। वे ब्रह्मचारियों को कक्षाओं में नोट्स भी लिखवाते थे। इसलिए कभी-कभी एक ही पुस्तक लम्बे समय तक चलती रहती थी।

एकबार उन्होंने साधु-ब्रह्मचारियों को ईशावास्योपनिषद पढ़ाना शुरू किया। ईशावास्योपनिषद में मात्र अठारह मन्त्र हैं। जब महाराज ने पढ़ाना शुरू किया, तो दस महीनों में केवल दो मन्त्र ही पूर्ण हुए ! वहाँ उपस्थित एक ब्रह्मचारी अधीर हो उठे और महाराज से कहा, "स्वामीजी, यह क्लास बहुत धीमे चल रहा है, यह कब पूरा होगा?" महाराज ने उन्हें गम्भीर और कठोरतापूर्वक कहा, "तो तुमलोग चाहते हो कि मैं शीघ्रतापूर्वक इस पुस्तक को पूरा कर दूँ? ठीक है, मैं तीन-चार महीनों में सारी उपनिषदें पूरी करा दूँगा और तब तुम लोगों के पास जाकर डींग हाँकना कि मैंने सारी उपनिषदें पढ़ ली हैं, यही बात है न? देखो, इस प्रकार पढ़ाने में मुझे कोई रुचि नहीं है। मैं तुम लोगों को शास्त्रों का बृहत्, प्रामाणिक और मूलभूत ज्ञान देना चाहता हूँ, जिसका समुचित उपयोग कर भविष्य में तुम स्वयं अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर सको।" स्वामी त्यागीशानन्द जी महाराज सदैव साधु-ब्रह्मचारियों को आदर्श संन्यासी जीवन यापन करने के लिए प्रेरित करते थे। उनका स्वयं का जीवन भी स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित त्याग और सेवा का ज्वलन्त उदाहरण था। ○○○

विवेकानन्द युवा प्रांगण
कृष्ण-जन्माष्टमी विशेष

'इसी एक श्लोक में पूरी गीता का सन्देश है'

स्वामी मेधजानन्द

साधारणत: यदि हमारे पास कोई निराश, दुखी अथवा दुर्बल मनोभाव वाला व्यक्ति आता है, तो हम उसके प्रति सहानुभूति-सम्पन्न हो जाते हैं। हमारा यह कर्तव्य भी बनता है कि दुखी-निराश व्यक्ति के सम्मुख मधुर वचन बोलकर उसे सान्त्वना दें। किन्तु विशेष परिस्थितियों में हतोत्साह व्यक्ति में बल का संचार करने के लिए कुछ कठोर और साहसी शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। उसमें भी जहाँ देश के लिए बलिदान और युद्ध की बात आती है, तो कोमल सान्त्वना भरे वचन कहने से कुछ काम नहीं चलता।

जो सहानुभूति हमारे भीतर शक्ति, बलिदान का संचार कर जीवन-संग्राम में अग्रसर करे, वही सच्ची सहानूभूति है। कुरुक्षेत्र के रणांगण में महापराक्रमी अर्जुन जब अपने सम्मुख खड़ी कौरव-सेना में देखते हैं कि उन्हें अपने ही सगे-सम्बन्धियों से युद्ध करना पड़ेगा, तो उनका हृदय भर आता है । वीरश्रेष्ठ अर्जुन अपने सारथि भगवान श्रीकृष्ण के सामने युद्ध न करने की अनेक युक्तियाँ और तथाकथित शास्त्र-प्रमाण भी देते हैं। अन्त में जब उन्हें कुछ समझ में नहीं आता, तो रथ के पीछे अपना गाण्डीव धनुष छोड़कर विषण्ण मन से बैठ जाते हैं।

देखा जाए तो, अर्जुन की समस्या कोई सामान्य नहीं थी। अपने ही गुरु, पितामह और भाइयों से युद्ध लड़ना इतनी आसान बात नहीं थी। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि यह युद्ध धर्म और अधर्म के बीच था। पाण्डव-सेना को पूरा विश्वास था कि श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यदि महायोद्धा अर्जुन हैं, तो उनकी विजय निश्चित है। भगवान श्रीकृष्ण भी जानते थे कि अर्जुन कायर नहीं हैं और वे युद्ध से कभी पलायन नहीं करते, किन्तु उनमें क्षणिक दुर्बलता आ गई है। जब अर्जुन ने शोकाकुल होकर युद्ध न करने का मन बना लिया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के भीतर सुप्त पराक्रम को झकझोरा। उन्होंने कहा :

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टम्-अस्वर्ग्यम्-अकीर्तिकरम्-अर्जुन।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ न-एतत् त्वयि उपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तवा-उत्तिष्ठ परन्तप।।

"हे अर्जुन! इस विषम परिस्थिति में तुममें दुर्बलता कहाँ से आयी? यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा आचरण करने योग्य है, न स्वर्ग को देने वाली है और न यश-कीर्ति देने वाली है। हे अर्जुन! इस कापुरुषता के वश मत होओ, यह तुम्हारे लिए शोभा नहीं देती, हे परंतप! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।"

स्वामी विवेकानन्द भगवान श्रीकृष्ण के इस श्लोक के बारे में कहते हैं, "ऐ मेरे बच्चो! यदि तुम लोग, दुनिया को यह सन्देश पहुँचा सको कि ***'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ न-एतत्-त्वयि-उपपद्यते'*** – इस कापुरुषता के वश मत होओ, यह तुम्हें शोभा नहीं देती – तो ये सारे रोग, शोक, पाप और विषाद तीन दिन में धरती से निर्मूल हो जाएँगे। दुर्बलता के ये सब भाव कहीं नहीं रह जाएँगे। इस समय सर्वत्र भय के स्पन्दन का प्रवाह है। प्रवाह को उलट दो, विपरीत तरंगें लाओ और देखो जादू! तुम सर्वशक्तिमान हो – तोप के मुँह तक जाओ, जाओ तो, डरो मत। अति अधम पापी से घृणा मत करो, उसके बाहरी व्यक्तित्व को मत देखो। दृष्टि को अन्तर्मुखी करो, जहाँ परमात्मा का निवास है। तुरही की ध्वनि से विश्व को निनादित कर दो, 'तुममें कोई पाप नहीं है, तुममें कोई दुख नहीं है, तुम परम शक्ति के आगार हो।' उठो, जागो और भीतर के देवत्व को अभिव्यक्त करो।"

व्यवहार में भी हम देखते हैं कि जब छोटे बच्चे कोई गलत काम करते हैं, तो उसे माता-पिता कहते हैं, 'तुम तो बहुत अच्छे बहादुर बच्चे हो, तुम्हारे लिए ऐसा गलत काम करना ठीक नहीं है।' यहाँ इस श्लोक में श्रीकृष्ण अर्जुन से दो विशेष बातें कहते हैं कि 'यह कापुरुषता तुम्हारे योग्य नहीं है' और 'इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध करो'। कभी-कभी हमारे जीवन में भी कुछ असामयिक दुर्बलताओं के कारण हमारा आत्म-गौरव कापुरुषता से आच्छन्न हो जाता है। तब हमें अपने भीतर के देवत्व को जगाने का प्रयास करना चाहिए। हमें चिन्तन करना चाहिए कि हम अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता और दैवी गुणों के उत्तराधिकारी हैं।

गीता के इस श्लोक के बारे में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है, ***'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ न-एतत्-त्वयि-उपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तवा-उत्तिष्ठ परन्तप।।'*** – तो उसे सम्पूर्ण गीता-पाठ का लाभ होता है, क्योंकि इसी एक श्लोक में पूरी गीता का सन्देश निहित है।" ○○○

एक महान स्वप्न साकार हुआ

(इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ साइंस, बेंग्लोर की स्थापना में स्वामी विवेकानन्द और उनके शिष्यों का योगदान)

शतदल घोष
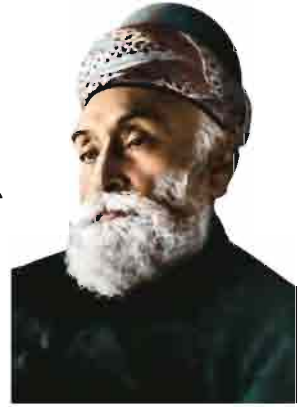
(‘वेदान्त केसरी’ रामकृष्ण मठ, चेन्नई के नवम्बर २०१४ में प्रकाशित इस लेख का अनुवाद रायपुर के डॉ. विप्लव दत्ता ने किया है। सं.)

प्रारम्भ – जब भारतवर्ष अंग्रजों के अधीन था, तब यह कहानी आरम्भ हुई। यह कहानी दो महान स्वप्नद्रष्टाओं के कार्यों के बारे में बताती है, जिन्होंने सोचा था कि भारत विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभा सकता है। यहाँ भी वैज्ञानिक सोच विकसित की जा सकती है तथा इसे समृद्ध एवं उन्नत देश बनाया जा सकता है।

१८८९ ई. में मुम्बई के गवर्नर तथा बॉम्बे विश्वविद्यालय के कुलाधिपति लार्ड रिय (Lord Reay) ने प्रसिद्ध दीक्षान्त समारोह के संबोधन में कहा था, “इंग्लैंड और भारतवर्ष के विद्वानों के संयुक्त प्रयास से ही हम इस प्राचीन विद्यापीठ में वास्तविक विश्वविद्यालय स्थापित करने की आशा कर सकते हैं, जो विद्यार्जन, अनुसंधान तथा विवेचन करने की नयी प्रेरणा देगा, जो हमारे और आपके देश की भावी पीढ़ियों में श्रद्धा की प्रेरणा देगा, शक्ति-संचार करेगा तथा उन्हें आत्मनिर्भर बनायेगा।”[१]

इन शब्दों से प्रेरित होकर प्रसिद्ध उद्योगपति जमशेदजी नशेरवानजी टाटा ने १८९२ ई. में कुछ प्रतिभाशाली छात्रों को प्रतिवर्ष उच्च शिक्षा हेतु इंगलैंड भेजने के लिये एक समिति बनाई।[२,३]

इसके पीछे उनका दृष्टिकोण संक्षेप में इस प्रकार था, “समाज में इस प्रकार की सेवा बहुत प्रचलित है, जिसमें गरीबों को वस्त्र और भोजन-दिया जाता है तथा रोगियों की चिकित्सा की जाती है। मैं उनकी भावनाओं का मूल्यांकन कम नहीं करता, जो दीन-दुखियों की सेवा करते हैं। किन्तु किसी राष्ट्र या समाज के सर्वांगीण विकास के लिए मात्र गरीबों और अनाथों की सेवा ही पर्याप्त नहीं है, अपितु श्रेष्ठ और प्रतिभाशाली लोगों को भी ऊँचा उठाना होगा, ताकि वे देश के विकास में महानतम योगदान दे सकें।”

ध्यान देने की बात यह है कि जमशेदजी की प्रारम्भिक योजना योग्य छात्रों को शिक्षा हेतु विदेश भेजने की और भारत में अपने कारखानों में उन्हें तकनीकी प्रशिक्षण देने की भी थी।

ऐतिहासिक साक्षात्कार

यह घटना जुलाई १८९३ की है। भारत के स्वाधीन उद्योगपति जमशेदजी टाटा जापान की व्यावसायिक यात्रा पर थे। उसी यात्रा में एक उच्च मेधावी, प्रखर देशभक्त युवा भारतीय संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जी भी यात्रा कर रहे थे। वे जमशेदजी से सोलह वर्ष छोटे थे। बाद में जमशेदजी ने भगिनी निवेदिता से स्वामीजी का उल्लेख किया था – “जब स्वामीजी जापान में थे, तब लोग उन्हें बुद्ध के समान देखकर स्तब्ध हो जाते थे।”

स्वामीजी जापान के द्रुत विकास के प्रशंसक थे। उन्होंने १० जुलाई, १८९२ के पत्र में अपने मद्रासी शिष्यों को लिखा था, “लगता है जापानियों ने वर्तमान युग की आवश्यकतानुसार अपने आपको पूर्ण रूप से जाग्रत कर लिया है। वे अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ अपने ही देश में निर्मित करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। मैं चाहता हूँ कि हमारे देश से प्रतिवर्ष कुछ नवयुवक जापान तथा चीन की यात्रा करें।”[४]

यदि कोई इन घटनाओं का पुनर्निरीक्षण करे, तो समझ सकता है कि यह हमारे देश के लिए सौभाग्य की बात है कि जीवन के दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की विभूतियाँ उस समय एक ही गन्तव्य की ओर यात्रा कर रही थीं। दोनों ही जापान से एस.एस.एम्प्रेस ऑफ इंडिया नामक जहाज से वैंकुवर, कनाडा पहुँचे। स्वामी विवेकानन्द के पत्र से यह ज्ञात होता है कि ‘उन्होंने श्रीमान् टाटा से यह प्रश्न किया था कि वे जापान से भारत में विक्रय करने के लिये दियासलाई क्यों मँगवाते हैं? क्योंकि इससे राष्ट्रीय धन का अपव्यय होता है, जबकि उन्हें बहुत ही सामान्य आर्थिक लाभ होता है। स्वामीजी ने टाटा से अनुरोध किया था कि वे भारतवर्ष में एक दियासलाई का कारखाना स्थापित करें, जिससे उन्हें अधिक लाभ तो होगा ही, साथ ही देशवासियों को रोजगार मिलेगा और राष्ट्र की सम्पत्ति देश से बाहर नहीं जायेगी।’[४]

उन्होंने लोहे एवं इस्पात उद्योग के विभिन्न पहलुओं पर भी चर्चा की थी। जमशेदजी ने बताया था कि उनके तकनीकी स्थानान्तरण के प्रस्ताव को इंग्लैंड के इस्पात के प्रमुख उद्योगपतियों ने अस्वीकार कर दिया है, इसीलिए वे अमेरिकी उद्योगपतियों के पास जा रहे हैं। इस सन्दर्भ में स्वामीजी ने कहा था कि उत्पादन करने की तकनीकी प्रणाली का विदेशों से आयात किया जा सकता है, पर इस्पात विज्ञान के लिए एक अनुसंधान केन्द्र का भारतवर्ष में होना आवश्यक है, जहाँ हमारे देशवासियों को शिक्षा की प्राचीन परम्परा के साथ प्रशिक्षण दिया जा सके।[५,६]

सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट है कि दो विचारों के इस ऐतिहासिक मिलन ने जमशेदजी की योजना को एक नया आयाम दिया। वे अब भारतवर्ष में वैज्ञानिक अनुसंधान एवं औद्योगिकी उच्च शिक्षा हेतु एक अनुसंधान केन्द्र की स्थापना करने के बारे में सोचने लगे।

एक अभिनव विचार का उदय

जमदेशजी ने सन् १८९६ में बरजोरी जम्प्स जी पादशाह (Burjouri Jamspji padshah) को इस योजना में सहायता करने के लिये आमंत्रित किया तथा उन्हें यूरोप तथा अमेरिका के कई विश्वविद्यालयों में उनकी कार्य-पद्धति को समझने के लिए भेजा।[१,७] उसी वर्ष उन्होंने लॉर्ड रिए (Lord Reay) को लिखा, ''ईश्वर की कृपा से मुझे आवश्यकता से अधिक संसार की वस्तुएँ मिली हैं और मेरे जीवन की सफलता में कुछ असाधारण अनुकुल परिस्थितियों का भी योगदान है। मैं अपना यह कर्तव्य समझता हूँ कि अपने देश के अल्प संसाधन लोगों को वैसी ही अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान कर अपने कर्तव्य का पालन करूँ। मैं अपनी संपत्ति से एक ट्रस्ट बनाने का प्रस्ताव करता हूँ, जो वार्षिक अस्सी हजार से एक लाख रुपये तक इस उद्देश्य के लिये प्रबन्ध करेगी।

इस विश्वविद्यालय की संपत्ति उनके पुत्रों तथा उनके उत्तराधिकारियों के पास रहेगी। उनकी संतान ही इस संयुक्त संपत्ति की व्यवस्था करने के लिये उत्तरदायी होंगी। किसी अपरिचित विचारधारा के ट्रस्ट सदस्यों के हाथों में विश्वविद्यालय की सम्पत्ति देने के बदले उन्हें यह विकल्प उचित लगा। उन्होंने कहा था, ''मैं मानता हूँ कि ट्रस्ट की संपत्ति की व्यवस्था करना बहुत कठिन है और जब कई ट्रस्टी मिलकर सामूहिक व्यवस्था करते हैं, तो इसके दुरुपयोग होने की संभावना बढ़ जाती है।''[२,३]

यद्यपि उनकी इस अद्भुत योजना की बाधाओं के बीज संपत्ति-व्यवस्था के दृष्टिकोण में ही छिपे हुए थे, जैसा कि उन्होंने पत्र में लिखा था। जब उन्हें इसका बोध हुआ, तो उन्होंने एक संशोधित वक्तव्य जारी किया, परन्तु उस सम्बन्ध में वे पहले जैसे ही दृढ़ बने रहे, 'संपत्ति की व्यवस्था संयुक्त रूप से एक ट्रस्ट द्वारा की जाएगी तथा इसके वार्षिक आय में विश्वविद्यालय तथा उनके परिवार की साझेदारी होगी।'[२,३]

इसी बीच विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये एक २३ सदस्यीय अस्थायी समिति बनाई गयी। १८९८ में पादशाह के वापस आने के बाद उन्हें इस समिति का सचिव नियुक्त किया गया।[२,३]

इसके अतिरिक्त जमशेदजी टाटा ने भारत में अनुसन्धान करने हेतु विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु ३० लाख रूपये की सार्वजनिक रूप से घोषणा की, जिसने भारतीय शैक्षणिक समुदाय में भारी उत्साह का संचार किया। २८ सितम्बर, १८९८ को 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समाचारपत्र ने लिखा, ''बॉम्बे के सुविख्यात् लखपति तथा व्यवसायी श्री जे. एन. टाटा ने संवैधानिक रूप से एक संस्था का गठन कर कुछ

स्वामी विवेकानन्द और जमशेदजी टाटा ने इसी 'एस. एस. एम्प्रेस ऑफ इन्डिया' जहाज में एक साथ यात्रा की थी

शर्तों के साथ अपनी सम्पत्ति का एक भाग दान दिया है। उससे लगभग १,२५,०००/- रुपये की वार्षिक आय होगी एवं उसका उपयोग स्नातकोत्तर शिक्षार्थियों के लिये किया जायेगा।

टाटा औद्योगिक तथा वाणिज्यिक क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ करने हेतु उच्च शिक्षा के महत्त्व को जानते हैं। इसलिये वे स्नातक छात्रों का चयनकर अपने कारखानों में लगभग ३ वर्षों के लिये प्रशिक्षण के लिये भेजते हैं। इस अवधि में प्रचलित व्यवस्था के विपरीत प्रशिक्षण का मानदेय भी दिया जाता है।

टाटा हमारी विश्वविद्यालयीन शिक्षा में प्रगति की आवश्यकता का अनुभव करते रहे हैं। हमारे देश के विद्यार्थियों को तीव्र असाध्य बीमारियों या रसायन विज्ञान की समस्याओं पर वैज्ञानिक शोध, देश के विशाल एवं उपेक्षित राष्ट्रीय इतिहास तथा भाषाशास्त्र के विकास के लिये प्रयोगशाला तथा पुस्तकालय की स्थापना करना आवश्यक है, जहाँ छात्र महान शिक्षकों के निर्देशन में अध्ययन कर सकें। टाटा को सुझाव दिया गया था कि या तो एक नया विश्वविद्यालय प्रारम्भ किया जाये या पहले से स्थापित विश्वविद्यालयों में से किसी एक को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के किसी स्नातकोत्तर विश्वविद्यालय जैसे कि जॉन हॉपकिन्स अथवा क्लार्क के तर्ज में विकसित किया जाय, यह भारतवर्ष में शोधकार्य के प्रति उत्साह बढ़ाने का पहला कदम होगा। यूरोपीय देशों में प्रारम्भिक जाँच-पड़ताल तथा इंग्लैण्ड एवं अन्य देशों के श्रेष्ठतम शैक्षिक संस्थानों से परामर्श लेने के बाद उन्होंने उपरोक्त प्रस्ताव का निर्णय लिया।[४]

स्वामीजी से मिलने के बाद भारतवर्ष में उच्च शिक्षा के प्रसार के लिये जमशेदजी के विचार में सकारात्मक विकास इस लेख में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

पादशाह के सम्मति के बाद अस्थायी समिति ने एक 'इम्पीरियल यूनिवर्सिटी ऑफ इंडिया' की स्थापना के लिए अनुशंसा की, जिसमें विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग के अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र विभाग, दर्शनशास्त्र एवं शिक्षाविभाग भी होगा।[२,३] प्रस्ताव का विस्तृत विवरण ८ अक्टूबर १८९८ के 'बंगाली' के निबन्ध में प्रकाशित हुआ था।[४]

किन्तु जमशेदजी के प्रस्ताव को अपेक्षित ब्रिटिश शासन की उदासीनता का सामना करना पड़ा। क्योंकि भारत में स्वदेशी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकसन ब्रिटिश उद्योगों द्वारा भारतीय संसाधनों के अनियन्त्रित शोषण को चुनौती देता। फ्रैंक हैरीस अपनी पुस्तक 'जमशेदजी नशेरवानजी टाटा : उनके जीवन का इतिहास' में संक्षिप्त पाद टीका में लिखते हैं –

''सर डोराबजी टाटा का विचार है कि उस समय उनके पिताजी को कम आशा थी कि उनकी योजना में भारत सरकार रुचि लेगी। नवम्बर, १८९८ में टाटा ने स्वामी विवेकानन्द को एक पत्र लिखा कि वे एक पुस्तिका द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में सुधार लाने के लिए देशवासियों को त्याग की दिशा में आह्वान कर जाग्रत करने का कार्य करें। इसका प्रकाशन का व्यय देने को वे प्रस्तुत थे।[८]

स्वामीजी की भूमिका

इन दो वाक्यों का अनुक्रम बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जमशेदजी यह निश्चित रूप से जानते थे कि तत्कालीन भारतीय जनमानस पर स्वामी विवेकानन्द का कितना प्रभाव है। वे चाहते थे कि उनके (विजयी होकर वापस आने पर) इस शक्ति का उपयोग ब्रिटिश सरकार के विरोध में जन-जागरण के लिये करें। उन्होंने २३, नवम्बर १८९८ को स्वामीजी को लिखा[४-७,९] –

प्रिय स्वामी विवेकानन्द,

मुझे विश्वास है, आपको स्मरण होगा कि जापान से शिकागो की यात्रा में मैं आपका सहयात्री था। आपने त्याग-भावना के विकास के विषय में जो कहा था, मैं इस समय भारतवर्ष में उसका स्मरण कर रहा हूँ। इन भावनाओं को नष्ट न कर इन्हें उपयोगी दिशा देना, हमारा कर्तव्य है । भारतवर्ष में विज्ञान के शोध केन्द्र की स्थापना कर, इन विचारों को मूर्त रूप देने योजना बना रहा हूँ। जिसके विषय में आपने अवश्य ही पढ़ा या सुना होगा। मुझे लगता है कि त्याग-भावना का सदुपयोग तपस्वी पुरुषों के लिये मठ अथवा आवास बनाकर किया जा सकता है, जहाँ वे साधारणत: शिष्टाचार से रहकर अपने जीवन को विज्ञान, प्राकृतिक एवं मानवता के कल्याणकारी कार्यों में लगा सकें। मेरे मतानुसार ऐसा धर्मयुद्ध यदि किसी दक्ष नायक के नेतृत्व में हो, तो यह त्याग-भावना, विज्ञान एवं हमारे देश को आगे बढ़ाने में, एवं हमारे देश का नाम उज्ज्वल करने में सहायक होगा। मेरी दृष्टि में ऐसे अभियान के लिए विवेकानन्द से अधिक उपयुक्त नाम दूसरा क्या हो सकता है? क्या आप अपना जीवन इस महान कार्य हेतु लोगों को प्रेरित करने के लिये लगाएँगे? आप जन-जागरण का कार्य एक ओजस्वी पुस्तिका के द्वारा आरम्भ कर सकते हैं। इस पुस्तिका के प्रकाशन का व्यय-भार वहन करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

श्रद्धापूर्वक,

मेरे प्रिय स्वामीजी, मै हूँ

आपका विश्वस्त

जमशेदजी एन. टाटा।
२३ नवम्बर, १८९८
एसप्लेनेड हाउस, बॉम्बे

३१ दिसम्बर १८९८ को अस्थायी समिति के सभी सदस्यों ने वाइसराय लॉर्ड कर्जन से उनके भारतवर्ष आने के एक दिन बाद ही भेंट की।[२,३]

'बांगाली' १८ जनवरी, १८९९ के एक लेख में इसका उद्धरण मिलता है, ''लार्ड कर्जन टाटा की योजना के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखते हुए भी कुछ गम्भीर आशंकित प्रतीत होते हैं। यहाँ पर्याप्त छात्र उपलब्ध होंगे या नहीं इस सम्बन्ध में वे निश्चित नहीं हैं। खाली बेंचों की कतार के लिये उच्च वेतन प्राप्त प्राध्यापकों की सेवा प्राप्त करना भी उपयुक्त नहीं लगता। उन्हें यह भी संदेह है कि सफलतापूर्वक पाठ्यक्रम पूर्ण करने के बाद छात्रों को तत्काल रोजगार मिलेगा या नहीं। बहुत से शिक्षित भारतीयों को उचित रोजगार नहीं मिलता या कोई रोजगार नहीं मिलता। न्यायमूर्ति कैन्डी ने लॉर्ड कर्जन द्वारा जानकारी माँगने पर बताया कि पहले ठीक से आरम्भ करने की योजना है एवं निधि प्राप्त होने पर क्रमश: प्रस्तावित संस्था का विस्तार किया जा सकता है।''[४]

कर्जन महोदय को दर्शन विभाग, शिक्षा विभाग, पुरातत्त्व विज्ञान, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान एवं शिक्षण पद्धति के मूल्यों पर भी संदेह था, जिसमें पर्याप्त आर्थिक व्यय होने की सम्भावना है।

जमशेदजी की योजना को प्रतिदिन निराशा में बदलते हुए देखकर पादशाह एवं उनकी बहन स्वामीजी से परामर्श

शेष भाग पृष्ठ ४१३ पर

जमशेदजी टाटा द्वारा स्वामी विवेकानन्द को लिखे गए पत्र की प्रतिलिपि

ESPLANADE HOUSE
BOMBAY

Nov. 23. 1898

Dear Swami Vivekanand.
I trust that you remember me as a fellow-traveller on your voyage from Japan to Chicago. I very much recall at this moment your views on the growth of the ascetic spirit in India & the duty, not of destroying, but of diverting it into useful channels.
I recall these ideas in connection with my scheme of a Research Institute for India, of which you have doubtless heard or read. It seems to me that no better use can be made of the ascetic spirit than the establishment of monasteries or residential halls for men dominated by this spirit, where they should live with ordinary decency & devote their lives to the cultivation of sciences – natural & humanistic. I am of opinion that if such a crusade in favour of an asceticism of this kind were undertaken by a competent leader, it would greatly help asceticism, science, & the good name of our common country, & I know not who would make a more fitting general of such a campaign than Vivekanand. Do you think you would care to apply yourself to the mission of galvanising into life our ancient traditions in this respect? Perhaps, you had better

पतंजलि के अनुसार चित्त की भूमियाँ

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

(स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी हैं। ये रामकृष्ण मठ चेन्नई से प्रकाशित होनेवाली 'वेदान्त केसरी' मासिक पत्रिका के पूर्व सम्पादक थे। इनकी पातंजल योग विषयक प्रवचनमाला काफी लोकप्रिय हुई है। पातंजल योग से सम्बन्धित तप, स्वाध्याय, शरणागति आदि कई लेख इनकी पुस्तक 'आनन्द की खोज' में पहले से ही प्रकाशित हो चुके हैं। अब योग के शेष अन्य विषय जो अब तक अप्रकाशित हैं, महाराजजी ने विशेष रूप से विवेक ज्योति के पाठकों के लिये लिखे हैं, उन्हें प्रकाशित किया जा रहा है। - सं)

पतंजलि के द्वारा वर्णित चित्त के स्वरूप को समझने के लिये हमें चित्त की भूमियों, चित्तवृत्तियों एवं चित्त की क्रियाओं को समझना होगा।

चित्त की भूमियाँ

पतंजलि योगसूत्र के दूसरे सूत्र में कहते हैं – **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**। अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध योग कहलाता है।

अब प्रश्न उठता है कि चित्त, वृत्तियाँ तथा निरोध, इन तीन शब्दों का इस सूत्र में उल्लेख किया गया है, इनका क्या अर्थ है? पतंजलि चित्त की वृत्तियों का वर्णन आगे करेंगे। लेकिन व्यासदेव, स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक व्याख्याकारों ने चित्त तथा निरोध को समझाने के लिये इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या की है। उन व्याख्याओं में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधनोपयोगी बातें हैं, जिन्हें हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द चित्त की तुलना एक सरोवर से करते हैं और उस पर उठ रही तरंगों की तुलना चित्तवृत्तियों से करते हैं। कल्पना कीजिए कि एक सरोवर के तल में प्रकाश का एक गोला (बल्ब) जल रहा है। सरोवर का जल हिल-डुल रहा है और उसकी सतह पर लहरें उठ रही हैं। ऐसी स्थिति में बल्ब का प्रकाश लहरों के साथ मिल जाएगा और लहरें ही प्रकाशित दिखाई देंगी।

अब यदि लहरें पूरी तरह शान्त हो जायें और सरोवर के जल में किसी प्रकार की हलचल न हो, तो क्या होगा? तल में विद्यमान बल्ब स्पष्ट रूप से दिखाई देगा। चित्तवृत्ति-निरोध इसी प्रकार की प्रक्रिया है, जिससे मनरूपी सरोवर पर उठ रहे विचारों को पूरी तरह शान्त किया जाता है। ऐसा करने पर चित्त-सरोवर के नीचे विद्यमान चैतन्य का प्रकाश स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है।

टीकाकारों ने 'चित्तभूमि' का उल्लेख कर एक नयी बात को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। व्यासदेव कहते हैं कि चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ होती हैं – क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्तभूमि के इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझे बिना हम योगशास्त्र के उद्देश्य और साधनाओं के औचित्य को नहीं समझ पायेगें।

सामान्य लौकिक भाषा में भूमि किसे कहते हैं? भूमि शब्द पृथ्वी के लिए प्रयुक्त होता है। हम बोल-चाल की भाषा में कहते हैं कि अमुक भूमि बंजर है या अमुक पथरीली भूमि है, अमुक काली मिट्टी की भूमि है अथवा अमुक रेतीली भूमि है। किसी स्थान विशेष पर पृथ्वी की गहराई की बनावट जैसी होती है, उसे उसी प्रकार की भूमि कहा जाता है।

यह तो सर्वविदित ही है और आसानी से समझा भी जा सकता है कि हमारा मन चेतन स्तर पर उठ रहे विचार मात्र नहीं है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार मन के कई स्तर हैं। उसके अनुसार मन एक त्रिकोण या पिरामिड की तरह है, जिसकी आठ परतें हैं। सबसे ऊपर का दिखाई देने वाला चेतन मन केवल एक आठवाँ अंश मात्र है। उसके नीचे अवचेतन मन है। उसके भी नीचे व्यक्तिगत अचेतन, पारिवारिक अचेतन, सामुदायिक अचेतन आदि अनेक स्तर हैं।

अब दृष्टान्त को चित्त सरोवर पर लगायें। एक तो सरोवर की तलहटी है और दूसरा है उसकी ऊपरी सतह, जिस पर तरंगें उठती हैं। इन दोनों के बीच की गहराई सरोवर की भूमि कहलायेगी। यह पाँच प्रकार की हो सकती है – क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। मटमैली यानी पानी मटमैला हो सकता है, रंगीन हो सकता है, किसी रासायनिक पदार्थ से युक्त हो सकता है इत्यादि। तात्पर्य यह है कि चित्त की बनावट, उसकी सहज या स्वाभाविक अवस्था चित्तभूमि कहलाती है। उपर्युक्त दृष्टान्त में मटमैला, विषैला या रंगीन पानी जैसा भी क्यों न हो, उसकी सतह पर उठ रही लहरें शान्त हो सकती हैं। ठीक उसी प्रकार से चित्तभूमि इन पाँच

प्रकारों में से किसी भी प्रकार की क्यों न हो, उसकी वृत्तियों का निरोध हो सकता है। लेकिन प्रथम तीन प्रकार की भूमियों में ऐसा निरोध योग के लिए उपयोगी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जब तक चित्त की एकाग्र या निरुद्ध भूमि न हो, तब तक वह योगोपयोगी नहीं होता।

पहली चित्तभूमि है क्षिप्त – ऐसा मन हिंसादि से प्रभावित एवं अत्यन्त अस्थिर होता है। ऐसा मन अतीन्द्रिय विषयों के चिन्तन में पूर्णत: असमर्थ होता है। जैसाकि पहले कहा गया है – ऐसी चित्तभूमि वाले मन में भी समाधि सम्भव है। इसके लिये जयद्रथ का दृष्टान्त दिया जाता है। पाण्डवों द्वारा अपमानित होने पर जयद्रथ ने तीव्र द्वेष भावना से प्रेरित हो भगवान शिव की एकाग्र मन से आराधना की तथा समाधि की अवस्था में उनका दर्शन और वरदान प्राप्त किया। लेकिन इस प्रकार की क्षिप्त भूमि में प्राप्त एकाग्रता व समाधि से योग एवं कैवल्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।

तमोगुणप्रधान चित्त मूढ़ कहलाता है। ऐसा व्यक्ति स्वभाव से ही आलसी, प्रमादी, निद्रालु होता है तथा काम-काञ्चन में अत्यन्त आसक्त रहता है। लेकिन ऐसी भूमि में भी किसी विषय विशेष में मन की तीव्र एकाग्रता होने पर समाधि सम्भव है। इस सत्य के गहरे महत्त्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। कोई भी आसक्त, विषयी, क्रूर प्रकृति का व्यक्ति भी तीव्र एकाग्रता द्वारा समाधि प्राप्त कर सकता है, किन्तु ऐसी समाधि से उसकी क्रूरता अथवा वासना की वृद्धि ही होती है और जगत का भी अकल्याण होता है। रावण, बाणासुर आदि असुर इसी के दृष्टान्त हैं।

तीसरी भूमि है विक्षिप्त। ऐसा मन कभी-कभी एकाग्र हो जाता है। हमलोगों में से अधिकांश का मन ऐसा ही होता है - कभी एकाग्र, कभी चंचल। अच्छी वृत्तियों की कमो-बेशी मात्रा के अनुसार ऐसे विक्षिप्त मन के असंख्य भेद हो सकते हैं। तपोभ्रष्ट योगियों और ऋषियों का मन भी इसी श्रेणी में आता है।

एकवृत्ति प्रभाव अर्थात् एकाग्रता जिस चित्त का स्वभाव है, वैसा चित्त एकाग्रभूमि चित्त कहलाता है। उस चित्त से सम्प्रज्ञात समाधि सम्भव है। स्वामी विवेकानन्द का मन इसी प्रकार का था। वे जो भी कार्य करते थे, वह पूरी एकाग्रता से करते थे, भले ही वह कोई पुस्तक पढ़ना हो, ध्यान करना हो अथवा निशाना लगाना हो इत्यादि। मुक्तिप्राप्ति हेतु क्षणिक सत्य-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। उस सत्य-ज्ञान को स्थिर और स्थायी बनाये रखना आवश्यक है। यह एकाग्र भूमि में होता है। इस भूमि में जिन क्लेशों, दोषों का त्याग होता है, वह स्थायी होता है। अधिकांश व्यक्ति गुण, दोष की समझ तो रखते हैं, गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करना भी चाहते हैं, लेकिन चित्त की चंचलता के कारण यह स्थायी रूप से नहीं हो पाता। एकाग्रभूमि चित्त की यह विशेषता है कि वह इच्छानुसार दोषों को त्याग भी सकता है और गुणाधान भी कर लेता है।

जब बार-बार के अभ्यास द्वारा निरोध अवस्था स्वाभाविक हो जाती है, तब चित्त की निरोध भूमि होती है। श्रीरामकृष्ण का मन इसका सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त है। सर्वप्रथम एक बार समाधि में उन्हें माँ जगदम्बा का दर्शन हुआ। लेकिन वे इससे सन्तुष्ट नहीं हुए और तीव्र साधना द्वारा उन्होंने बार-बार दर्शन पाकर उस निरोध अवस्था को स्वाभाविक बना लिया था।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह समझ में आ जाएगा कि साधक के लिए चित्तवृत्ति निरोध ही पर्याप्त नहीं है। वह तो कोई भी किसी परिस्थिति विशेष में कर सकता है। महत्त्वपूर्ण बात है कि चित्तभूमि का परिवर्तन यम-नियम आदि के द्वारा किया जाता है। नैतिक जीवन तथा सत्य-अहिंसा आदि का पालन भी ध्यान-धारणा के अभ्यास की तरह आवश्यक है। ○○○

किसी भक्त ने श्रीरामकृष्ण देव से पूछा, ''किस उपाय से ईश्वर के दर्शन हों? श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, ''क्या तुम उनके लिए व्याकुल होकर रो सकते हो? लोग बाल-बच्चे, औरत, रुपए-पैसे के लिए लोटा-लोटा भर आँसू बहाते हैं, पर भगवान के लिए कौन रोता है? बच्चा जब तक चुसनी में भूला रहता है, तब तक माँ रसोई या घर के अन्य कामकाज में लगी रहती है, पर जब बच्चे को चुसनी अच्छी नहीं लगती और उसे फेंककर वह माँ के लिए चिल्लाकर रोने लगता है, तब माँ झट चूल्हे पर से हण्डी को उतारकर दौड़ती हुई आकर बच्चे को गोदी में उठा लेती है ।

– श्रीरामकृष्ण परमहंस

मेरे जीवन की कुछ स्मृतियाँ (९)

स्वामी अखण्डानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य थे। परिव्राजक के रूप में उन्होंने हिमालय इत्यादि भारत के कई क्षेत्रों के अलावा तत्कालीन दुर्लघ्य माने जाने वाले तिब्बत की यात्राएँ भी की थीं। उनके यात्रा-वृत्तान्त तथा अन्य संस्मरण बंगला पुस्तक 'स्मृति कथा' में प्रकाशित हुए हैं, जिनका अनुवाद विवेक ज्योति के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

तिब्बत में तीन वर्ष

इस बार तिब्बत जाने का उद्देश्य था कैलास तथा मानसरोवर का दर्शन करने के बाद ल्हासा देखना। पहाड़ी व्यापारी लोग मेरे मित्र थे।

पहले साल – मैंने थूलिंग मठ में जाकर तिब्बती भाषा सीखी। लामाओं का ऐश्वर्य, विलासिता तथा निर्धनों पर अत्याचार देखकर मैंने आम लोगों की निर्धनता तथा कष्टों की बात उनसे कही। व्यापारी मित्रों ने मुझे ऐसा करने से मना किया। इसके फलस्वरूप थूलिंग मठ में मुझ पर अत्याचार हुआ – मेरे कन्धे पर म्यानयुक्त तलवार की चोट पड़ी। कुछ पहाड़ियों ने नशे की झोंक में लामाओं के समक्ष दुखियों के प्रति मेरी सहानुभूति की बात कह दी। लामाओं ने मेरे गाल को दुरुस्त कर देने का निर्णय लिया। उनका तात्पर्य यह था कि गाल काट डालने पर यह बातें नहीं कर सकेगा। मैं वहाँ से भाग निकला।

दूसरे साल – मैंने दाबा जिले में जाकर वहाँ से ल्हासा जाने का प्रयास किया, परन्तु मार्ग में तिब्बती पुलिस ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। तीन व्यापारियों ने जमानत देकर मुझे छुड़ा लिया। मुझे मानसरोवर तथा कैलास जाने की अनुमति मिल गयी और वहाँ जाकर मैंने उनका दर्शन किया। कैलास-यात्रा के मार्ग में मैं डाकुओं के हाथ पड़ गया था। उन्हें गुड़ व भुने चावल खिलाकर मैं उनके हाथों से मुक्त हुआ।

तीसरे साल – मैंने फिर ल्हासा जाने का प्रयास किया, परन्तु मेरे तिब्बत पहुँचते ही सभी मुझ पर गुप्तचर होने का सन्देह करके मुझसे विमुख हो गये। यहाँ तक कि मेरे परम मित्रों ने भी महाशत्रु की भाँति आचरण किया। मेरे जो दो-चार मित्र थे, उन्होंने भी भविष्य में मुझे तिब्बत जाने से मना किया।

स्वामीजी का बुलावा

इधर मठ के संन्यासीगण ४-५ वर्षों से मेरा कोई समाचार न पाने के कारण मान बैठे थे कि गंगाधर अब इस संसार में नहीं बचा है।

कश्मीर पहुँचकर मेरे मन में तुर्कीस्तान (टर्की) जाने की इच्छा हुई। स्वामीजी उन दिनों पवहारी बाबा से मिलने गाजीपुर गये हुए थे। मेरा समाचार पाते ही उन्होंने मुझे बुला भेजा। उन्होंने बारम्बार हिमालय जाने की योजना बनायी थी, परन्तु उसमें सफल न होने के कारण इच्छा व्यक्त की, ''गंगाधर हिमालय से विशेष परिचित है, अत: उसी के साथ हिमालय-भ्रमण को जाऊँगा।''

गाजीपुर पहुँचकर मैंने सुना कि स्वामीजी वाराणसी में हैं। वहाँ जाकर पता चला कि वे वराहनगर मठ (कलकत्ता) गये हैं। मैं वाराणसी से गाजीपुर होते हुए मठ में आया। परन्तु बाली स्टेशन पर उतरते समय पुलिस ने मुझे फिर पकड़ लिया और हावड़ा आदि स्थानों को ले गयी। बाद में मठ पहुँचकर मैंने वहाँ दो महीने निवास किया।

इसके बाद स्वामीजी मुझे साथ लेकर पश्चिम (उत्तर भारत) की यात्रा पर चल पड़े। प्रस्थान के पूर्व श्रीमाँ (सारदा देवी) ने मुझसे कहा, ''बेटा, तुम्हारे हाथों में हमारा सर्वस्व सौंप दिया। तुम पहाड़ की पूरी स्थिति से परिचित हो। देखना, नरेन को खाने का कष्ट न हो।''

हम लोग क्रमश: भागलपुर, वैद्यनाथ, गाजीपुर, वाराणसी, अयोध्या, नैनीताल और अलमोड़ा गये।

अलमोड़ा के मार्ग में एक दिन स्वामीजी भूख से अत्यन्त कातर हो गये। आसपास आतिथ्य ग्रहण करने योग्य कोई मकान नहीं था, केवल एक पीर का स्थान था। वहाँ एक मुसलमान फकीर रहते थे। उनके पास जाकर भिक्षा माँगने पर वे बोले, ''बाबाजी, एक खीरा दे सकता हूँ।'' वही खीरा ले जाने पर स्वामीजी ने उसे बड़ी तृप्ति के साथ खाया।

अलमोड़ा में शरत् महाराज (सारदानन्द) और वैकुण्ठ सान्याल (कृपानन्द) से भेंट हुई। स्वामीजी ने तपस्या करने की इच्छा से गढ़वाल की यात्रा की। चलते-चलते कर्णप्रयाग में ... शरत् महाराज तथा सान्याल महाशय को पतले दस्त तथा उल्टियाँ होने लगीं।

इसी यात्रा के दौरान मेरी बीमारी का भी सूत्रपात हुआ। मार्ग में स्वामीजी को और मुझे भी बुखार हो गया। हम दोनों सलड़काड़ चट्टी में ५-७ दिन बिस्तर पकड़े रहे। अगली चट्टी में फिर बुखार चढ़ा। अलमोड़ा के सदर-अमीन की दवा से हम लोग स्वस्थ हुए। इसके बाद श्रीनगर (गढ़वाल) जाकर हम लोग वहाँ एक-डेढ़ महीने रहे। मार्ग में हम लोग स्वामीजी से उपनिषद् पढ़ा करते थे। श्रीनगर में साधन-भजन चलता रहा। स्वामीजी भागीरथी की ओर जाने को व्याकुल थे। हम सभी पैदल टिहरी की ओर चल पड़े।

रास्ते में सन्ध्या के समय किसी गाँव में पहुँचने पर गाँव के चबूतरे पर अड्डा जमाने के बाद स्वामीजी को तम्बाकू पिलाने के लिये मैं आग की खोज में गया। परन्तु किसी भी पहाड़ी ने आग नहीं दी। चबूतरे पर लौटने के बाद सभी चिन्तित हो गये। मैंने कहा, एक कहावत है – गढ़वाली सरीखा दाता नहीं, लट्ठ के बगैर देता नहीं।

इस कहावत के अनुसार हम सभी जोर से चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे, ''लकड़ी लाओ, आग लाओ।'' तत्काल गढ़वाली लोग रोटी, सब्जी, लकड़ी, आग, तम्बाकू आदि सब कुछ ले आये और हम लोगों से शान्त रहने का अनुरोध करने लगे।

मेरे सीने का रोग

हम लोगों ने टिहरी में करीब पन्द्रह-बीस दिन रहकर साधन-भजन किया। श्रीमाँ के निर्देशानुसार मैं नित्य माधुकरी करके स्वामीजी को खिलाया करता।

टिहरी राज्य के दीवान हरप्रसाद शास्त्री के भ्राता रघुनाथ भट्टाचार्य से बातें करने के बाद स्वामीजी ने निश्चय किया कि भागीरथी तथा भीलांगना नदियों के संगमस्थल अर्थात् गणेश-प्रयाग में एक कुटिया बनाकर वहीं तपस्या करेंगे। मेरी खाँसी बढ़ जाने के कारण उन्होंने मेरे सीने की जाँच करने के लिये चिकित्सक के पास भेज दिया।

डॉक्टर ने मुझे बताया, ''आपकी छाती में कफ जम गया है। पहाड़ पर रहने से शरीर नहीं रहेगा। यथाशीघ्र मैदानी अंचल में जाकर चिकित्सा करानी होगी।'' यह सुनने के बाद स्वामीजी ने तपस्या का संकल्प छोड़ दिया और मुझे साथ लेकर मसूरी गये। वहाँ से राजपुर जाने पर हरि महाराज (तुरीयानन्द) के साथ भेंट हुई। इसके बाद हम लोग देहरादून गये।

देहरादून में हम लोगों ने एक व्यवसायी के मकान में आश्रय लिया। उस मकान का दालान बड़ा ही सीलन भरा था, अत: स्वामीजी मुझे वहाँ रखने को राजी नहीं हुए।

देहरादून के सिविल सर्जन से मेरे सीने की जाँच करायी गयी। उन्होंने मुझे हिमालय में जाने से मना किया और गरम कपड़ों तथा पथ्य आदि की व्यवस्था करने के लिये कहा। स्वामीजी ने देहरादून के सभी बड़े-बड़े घरों में आश्रय देने का अनुरोध किया, परन्तु कोई भी राजी नहीं हुआ। वे हताश होकर लौट रहे थे, तभी स्वामीजी के पूर्व-परिचित एक देशी ईसाई के साथ उनकी भेंट हुई। वे वहाँ के मिशनरी स्कूल में शिक्षक थे। वे 'जनरल एसेम्बली कॉलेज' में स्वामीजी के सहपाठी रह चुके थे। वे मुझे रखने को राजी हुए और ले जाकर एक कमरे में व्यवस्था कर दी। अगले दिन उनके बन्दर जैसे चेहरे तथा बड़ी-बड़ी दाढ़ियों वाले काले-कलूटे बावर्ची को देखकर और उसे अपने लिये झोल-भात लाते देखकर मैं किसी तरह उठ खड़ा हुआ और सीधे उस व्यवसायी के मकान की ओर दौड़ पड़ा। स्वामीजी ने सारी बातें सुनने के बाद कहा, ''अच्छा किया।''

अन्त में वहाँ के वकील पण्डित आनन्द नारायण राजी हुए और मेरी चिकित्सा का भार लेकर हर तरह से सहायता करने लगे। उनके यहाँ मैं अकेला ही रहता था। स्वामीजी, शरत् महाराज, सान्याल महाशय तथा तुरीयानन्द ऋषिकेश चले गये।

इलाहाबाद जाने के उद्देश्य से मैं सहारनपुर आया। वहाँ के वकील बंकू बिहारी चट्टोपाध्याय ने सलाह दी, ''इलाहाबाद उतनी अच्छी जगह नहीं है, आप मेरठ चले जाइये। वहाँ मेरे एक परिचित रहते हैं।'' उनका पत्र लेकर मैं असिस्टेंट सर्जन डॉ. त्रैलोक्य नाथ घोष के घर गया और वहीं करीब एक-डेढ़ महीने निवास किया। **(क्रमश:)**

ठाकुर (श्रीरामकृष्ण देव) कहते थे, 'हिरन की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी सुगन्ध पाकर हिरण चारों दिशाओं में दौड़ते रहते हैं, जानते नहीं कि यह सुगन्ध कहाँ से आ रही है।' उसी प्रकार भगवान मनुष्य के इस देह में ही विराजमान हैं, पर मनुष्य उन्हें न जानकर भटकते हुए परेशान हो रहा है। भगवान ही सत्य हैं, बाकी सब मिथ्या है।

– श्रीमाँ सारदा देवी

नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) की रायपुर यात्रा और प्रथम भाव-समाधि

देवाशीष चित्तरंजन रॉय, गोंदिया (महाराष्ट्र)

(श्री देवाशीष चित्तरंजन राय जी ने दीर्घ ११ वर्षों तक नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) तथा उनके कुटुम्बीजन की कलकत्ता से नागपुर होकर रायपुर यात्रा, रायपुर में उनके आवास के दो वर्ष एवं अन्य विषयों पर गहन शोध की है। इस विषय पर उनके 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका में भी लेख प्रकाशित हो चुके हैं। शिक्षण में एम.कॉम के अतिरिक्त उन्होंने इतिहास में बी.ए की डिग्री भी प्राप्त की है। प्रस्तुत लेख उनकी शोध का अंशमात्र है। सं.)

नरेन्द्रनाथ दत्त, जो परवर्ती काल में विश्वप्रसिद्ध 'स्वामी विवेकानन्द' के नाम से प्रसिद्ध हुए, उनका जन्म १८६३ में हुआ। वे उच्च न्यायालय के अॅटर्नी श्री विश्वनाथ दत्त के सुपुत्र थे। नरेन्द्रनाथ दत्त की शिक्षा जनरल असेंबली इन्स्टीट्युशन, कोलकाता में हुई। १८८४ में वे कोलकाता विश्वविद्यालय के स्नातक बने। कालान्तर में नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण परमहंस के शिष्य हुए। १८८६ ई. में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया।[१]

१८७१ में नरेन्द्रनाथ ने पंडित विद्यासागर के मेट्रोपोलिटन पाठशाला में प्रवेश किया।[२] तब उनकी आयु आठ वर्ष की थी। श्री भूतनाथ डे इसी पाठशाला में अध्यापक थे। वे उच्च माध्यमिक कक्षाओं में पढ़ाते थे। प्रोफेसर डे बाद में अनुभवी वकील भी हुए। श्री भूतनाथ डे नरेन्द्रनाथ की विद्वत्ता से प्रभावित थे। वे लिखते हैं – "बिले (नरेन्द्रनाथ का बचपन का नाम) ने असामान्य बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया है।"[३]

भूतनाथ डे

१८७६ में नरेन्द्रनाथ के पिताजी श्री विश्वनाथ दत्त लाहौर में थे। तब नरेन्द्रनाथ १३ वर्ष के थे। १८७७ के जनवरी माह में श्री विश्वनाथ दत्त लखनऊ गये। वहाँ से कुछ दिनों में ही वे वकीली के काम से रायपुर (तत्कालीन मध्य प्रान्त) में स्थानान्तरित हुए। रायपुर में कार्य का स्वरूप देखते हुए श्री विश्वनाथ दत्त ने अपने परिवार को यहाँ लाने का निर्णय लिया। नरेन्द्रनाथ तब आठवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। उनकी वार्षिक परीक्षा नवम्बर माह में (दुर्गापूजा के बाद) थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दत्त परिवार ने नरेन्द्रनाथ की परीक्षा के बाद ही रायपुर की ओर यात्रा आरम्भ की होगी।

रायपुर यात्रा

उस समय कोलकाता से रायपुर जाने के लिए रेलगाड़ी नहीं थी। इलाहाबाद, जबलपुर, भुसावल, नागपुर इस मार्ग से रेल की यात्रा हो सकती थी।[४] जबलपुर से रायपुर के लिए मुख्य रास्ता नहीं था तथा १८७९ तक नागपुर से रायपुर के लिए रेल-सेवा नहीं थी। कलकत्ता से नागपुर की दूरी ९१० मील थी। श्री विश्वनाथ दत्त जी की पत्नी भुवनेश्वरी देवी, पुत्र नरेन्द्रनाथ, महेन्द्रनाथ तथा पुत्री योगिन्द्रबाला (पुराने हावड़ा स्टेशन) रेल से लम्बी यात्रा करते हुए कलकत्ता से नागपुर आये। इस यात्रा में उनके साथ रायपुर के वकील श्री रायबहादुर भूतनाथ डे, उनकी पत्नी श्रीमती एलोकेशी देवी और छह माह के पुत्र हरिनाथ डे थे।[५] उन्होंने घने जंगल, जंगली जानवर, डाकुओं से घिरे नागपुर से रायपुत्र क्षेत्र की यात्रा बैलगाड़ी से की। श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने इस यात्रा का वर्णन किया है।

एलोकेशी देवी और उनके पुत्र हरिनाथ डे

प्रथम भाव-समाधि

स्वामी विवेकानन्द के सभी जीवनीकारों ने इस अरण्य-यात्रा तथा उनकी प्रथम भाव-समाधि का वर्णन किया है। स्वामीजी ने स्वयं भी इस यात्रा का वर्णन किया है। श्री महेन्द्रनाथ दत्त लिखित 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली' नामक पुस्तक के 'रायपुर कथा' नामक शीर्षक में इस घटना का वर्णन मिलता है – "१८७७, नरेन्द्र अपने माँ-पिताजी, बहन और भाई के साथ मध्य प्रदेश के

रायपुर गये थे। नागपुर से रायपुर (वस्तुत: कलकत्ता से नागपुर और फिर बैलगाड़ी से रायपुर) जाने में लगभग एक महीने का समय लगा था। प्रसिद्ध भाषाविद् श्री हरिनाथ डे तब छह मास के थे। उनके पिताजी श्री रायबहादुर भूतनाथ डे वहाँ अधिवक्ता (प्लीडर) थे। हमलोगों ने एक साथ यात्रा की और वहाँ एक ही घर में निवास किया।

"रायपुर की यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। हमारा दल चार बैलगाड़ियों में विभक्त था। बाघों और डाकुओं से रक्षा करने के लिए बन्दूकधारी रक्षक था। हम घने जंगल और पहाड़ों से घिरे हुए क्षेत्र से यात्रा कर रहे थे। यह क्षेत्र जंगली हिंस्र पशुओं से पूर्ण था। सूर्यास्त के पूर्व ही अपने निर्धारित गन्तव्य स्थान पर पहुँचना आवश्यक था। गाड़ीवान बाघों के डर से शीघ्रता कर रहे थे। सब लोग चिंतित थे। अचानक हमारे ध्यान में आया कि नरेन्द्रनाथ बैलगाड़ी में नहीं हैं। सब लोग चिंतित, व्याकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने लगे। नरेन्द्रनाथ पास की गुफा में मिले। वहाँ वे नि:स्तब्ध, निर्भय बैठे हुये थे, मानो अपने घर में आनन्द से रह रहे हों। हमने जब उन्हें वहाँ बैठने का कारण पूछा, तो उन्होंने कहा, "यह बहुत ही सुन्दर स्थान है। मैं बैलगाड़ी में बैठे-बैठे ऊब गया था, इसलिए यहाँ आया हूँ।" वे बोल नहीं पा रहे थे और उनकी आँखें अन्तर्मुखी थीं, मानो ध्यान में डुबी हों। उसके बाद वे आये और शान्ति से बैलगाड़ी में बैठ गये। आसपास की परिस्थिति का उन्हें बोध नहीं था।

दो नावों को जोड़कर, उस पर बैलगाड़ी चढ़ाकर वैनगंगा नदी को पार किया गया। हमने पास के किराना दुकान में आश्रय लिया। बारिश के मौसम में[६] नदी का बहाव तेज था। नदी पार करने में एक दिन लगता था। दूसरे दिन हम सब किराने की दुकान में बैठे थे। श्री भूतनाथ डे (M.A., B.L.) ने विभिन्न विषय, पुस्तकें तथा उनके लेखकों पर बोलना प्रारम्भ किया। नरेन्द्रनाथ तब आठवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। वे उच्च शिक्षित भूतनाथ डे जी के साथ विभिन्न पुस्तकों से उद्धरण देते हुए तर्क करने लगे। विस्मित होकर श्री भूतनाथ डे बारम्बार कहने लगे, "इतना छोटा बच्चा ! इतनी किताबें पढ़ी हैं !" रायपुर में उस समय विद्यालय नहीं था। नरेन्द्रनाथ ने अपने पिताजी से शिक्षा प्राप्त की। वे अपने पिताजी के साथ विभिन्न विषयों पर चर्चा तथा तर्क करते थे।[७]

श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने बंगाली भाषा में लिखित पुस्तक 'गुरुप्राण रामचन्द्रेर अनुध्यान' में एक गाँव का वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "सम्भवत: १८७७ में हम मध्य प्रदेश के रायपुर में गये थे। मेरे पिताजी उस समय बैरिस्टर (प्लीडर) थे। मैं अपनी माँ, भाई और बहन योगेनबाला के साथ रेलगाड़ी से नागपुर गया था। हमलोगों ने बैलगाड़ी से घने जंगलों को पार करते हुए यात्रा की। हमें यात्रा में एक माह का समय लगा। उस समय रेलगाड़ी से यातायात की सुविधा नहीं थी। जब हम 'घोड़तलाव' गाँव (वर्तमान में यह गाँव राष्ट्रीय महामार्ग न. ६ तक विस्तारित है) पहुँचे, तब वहाँ विशिष्ट व्यंजन पकाया गया। मुझे खाने की इच्छा नहीं थी। किन्तु मेरे बड़े भाई ने मुझे खाने का आग्रह किया।"[८]

स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी सारदानन्दजी ने भी अपने 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' नामक ग्रन्थ में नरेन्द्रनाथ की रायपुर यात्रा तथा उनकी प्रथम भाव-समाधि का वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "वे (स्वामी विवेकानन्द) कहा करते थे, 'वन के बीच से जाते हुए उस समय मैंने जो कुछ देखा या अनुभव किया, वह स्मृतिपटल पर सदैव के लिए दृढ़ रूप से अंकित हो गया है। विशेष रूप से एक दिन की बात उल्लेखनीय है। उस दिन हमलोग उन्नतशिखर विन्ध्य पर्वत के निम्न भाग के मार्ग से जा रहे थे। मार्ग के दोनों ओर बीहड़ पहाड़ की चोटियाँ आकाश को चूमती हुई खड़ी
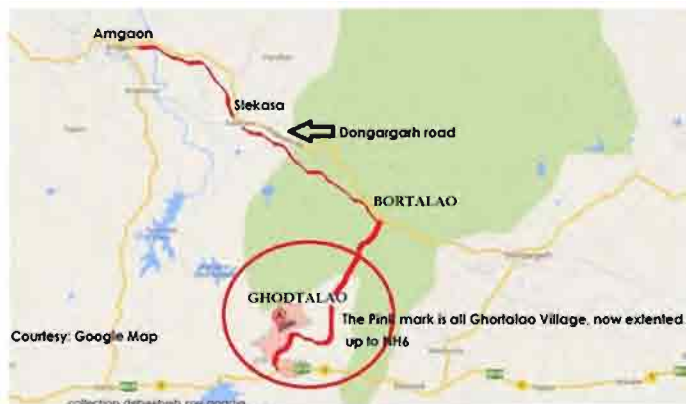
घोड़तलाव-बोड़तलाव

दरेंकसा गुफा

थीं। फल और फूलों के भार से लदी हुईं विभिन्न प्रकार की वृक्षलताएँ पर्वतपृष्ठ को अपूर्व शोभा प्रदान कर रही थीं। अपने मधुर कलरव से समस्त दिशाओं को गुँजाते हुए रंग-बिरंगे पक्षी कुंजों में घूम रहे थे और कभी-कभी आहार की खोज में भूमि पर उतर रहे थे। इन दृश्यों को देखकर मेरे मन में अद्‌भुत शान्ति का अनुभव हो रहा था। धीर मन्थर गति से चलती हुई बैलगाड़ियाँ एक ऐसे स्थान (संकरा वनमार्ग, जो दर्रेकसा पास के नाम से जाना जाता है) पर आ पहुँची, जहाँ पहाड़ की दो चोटियाँ मानो प्रेमवश आकृष्ट हो आपस में स्पर्श कर रही हैं। उस समय उन शिखरों का विशेष रूप से निरीक्षण करते हुए मैंने देखा कि पास वाले एक पहाड़ में नीचे से लेकर चोटी तक एक बड़ा भारी सुराख है और उस रिक्त स्थान को पूर्ण कर मधुमक्खियों के युग-युगान्तर के परिश्रम के कारण एक विशाल मधु का छत्ता लटक रहा है। तब आश्चर्यचकित होकर उस मक्षिका राज्य के आदि एवं अन्त की बात सोचते-सोचते मेरा मन तीनों जगत् के नियन्ता ईश्वर की अनन्त उपलब्धि में इस प्रकार डूब गया कि थोड़ी देर के लिए मेरा सम्पूर्ण बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। कितनी देर इस भाव में लीन होकर बैलगाड़ी में पड़ा रहा, याद नहीं। जब पुन: होश में आया, तो देखा कि उस स्थान को छोड़ काफी दूर आगे बढ़ आया हूँ। बैलगाड़ी में मैं अकेला ही था, इसलिए यह बात और कोई नहीं जान सका।' प्रबल कल्पना की सहायता से ध्यान-राज्य में विचरण करते हुए, पूर्ण रूप से तन्मय हो जाने का नरेन्द्रनाथ के जीवन में, सम्भवत: यही पहला अवसर था।''[९]

अत: इससे एक बात स्पष्ट है कि इस दल ने रेलगाड़ी से हावड़ा से नागपुर की यात्रा इलाहाबाद, जबलपुर, भुसावल स्थानों से की। इस सुदूर यात्रा के बाद सम्भव है कि उन्होंने नागपुर में कुछ दिन विश्राम किया होगा। नागपुर रेलवे स्टेशन के पास नव निर्मित श्री जमनाधर पोद्दार धर्मशाला थी।[१०] रायपुर के लिए बैलगाड़ी से लम्बी यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व सम्भवत: उन्होंने इसी धर्मशाला में निवास किया होगा। महेन्द्रनाथ दत्त के अनुसार इस यात्रा में चार बैलगाड़ियाँ और एक बन्दूकधारी था। उस समय राष्ट्रीय महामार्ग नं. ६ निर्माणाधीन था। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस महामार्ग का निर्माण हुआ। नागपुर से रायपुर का रास्ता कामठी कॅन्टॉन्मेन्ट, तरसा, भंडारा, तुमसर, परसवाडा, कटी, कामठा, दर्रेकसा पास, घोड़तलाव, डोंगरगढ़, राजनांदगाँव होते हुए ही था तथा वैनगंगा जैसी नदियों को अनेक स्थानों पर पार करते हुए जाना पड़ता था।[११] स्थानीय गॅजेट में ये सारी जानकारी उपलब्ध है। इस रास्ते को 'मिलिटरी और पोस्टल रोड' कहा जाता था। श्री महेन्द्रनाथ दत्त के कथनानुसार इस मार्ग पर 'दर्रेकसा पास'[११] के चारों ओर केवल घने जंगल और गुफाएँ थीं। 'दर्रेकसा पास' के पास की कुछ आकर्षक गुफाओं में पानी के अच्छे स्रोत थे। बाँस के घने जंगलों से गुजरता हुआ कष्टप्रद रास्ता और पास ही में पानी के स्रोतों की उपलब्धि के कारण इस मार्ग का नाम सार्थक होता है।[१२]

आज यह पुराना मार्ग 'हाजरा फॉल और आधुनिक रेलसुरंग के पास से गुजरता है। 'कुरादस स्ट्रीम' (हाजरा फॉल) ५० फीट ऊँचाई से गिरकर बड़े, गहरे तालाब में गिरती है। (वहाँ की गुफा को रेल की सुरंग में १८८९ में परिवर्तित किया गया। बाद में दर्रेकसा पास का उपयोग १९७० तक किया जाता था।) स्वामीजी के अनुयायी तथा सरकार को इस जगह के

दर्रेकसा के मार्ग पर हाजरा जलप्रपात पर स्वामी विवेकानन्द की प्रथम भाव-समाधि का विवरण देता हुआ सूचना-फलक

संवर्धन की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

श्री विश्वनाथ दत्त और भूतनाथ डे अपने परिवार के साथ १८७७ के दिसम्बर में मध्य या अन्तिम सप्ताह में रायपुर पहुँच गये। रायपुर में उन्होंने कहाँ निवास किया? उन्होंने वहाँ क्या किया? और एक-डेढ़ साल के बाद वे कलकत्ता कैसे पहुँचे? इसकी भी कहानी बड़ी रोचक है। इसकी चर्चा हम अन्य अंक में करेंगे।

सन्दर्भ :

१. हावड़ा जिला गॅजेटीयर, १९०९

२. युगनायक विवेकानन्द (हिन्दी) – स्वामी गम्भीरानन्द, पृ.क्र. ४३-४९, The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciple, पृ.क्र.३९-४०

३. Swami Vivekananda – A Reassessment by Narasingha Prasad Sil, पृ.क्र.२८

४. A History of East Indian Railway (1906) – जॉर्ज हंडलसन। वे लिखते है, "१ जून १८६७ के पहले जबलपुर शाखा का कार्य पूरा नहीं हुआ था। अत: यातायात के लिए उसे नहीं खोला गया था। अस्थायी कोच सेवा उपलब्ध करायी थी। जबलपुर-नागपुर के बीच में ग्रेट इंडिया, पेइन्स्युलर रेल ने कलकत्ता से बॉम्बे आने-जानेवाले यात्रियों की आगे की यात्रा के लिए यह व्यवस्था की थी। कलकत्ता से यात्रा हेतु पाँच दिन और २३१-२-६ रुपये लगते थे। यह सामान्य प्रथम श्रेणी के टिकट की राशि ९०-११-० रु. से भिन्न था।

लेखक : ग्रेट ब्रिटन, इंडिया ऑफिस, हंटर, विलियम विल्सन, १८४०-१९०० कॅप्टन, जेम्स सुथरलॅण्ड १८४७-१९१८, बर्न रिचर्ड सर १८७१-१९४७, मेयर विल्यम स्टिव्हन्सन, सर, १८६०-१९२२, खण्ड १०, इंपेरियल गॅजेट इंडिया (१९०७) में लिखते है, "ग्रेट इंडियन पेनेनस्युलर रेल्वे मुंबई की उत्तर-पूर्व लाइन भुसावल जंक्शन पर दो शाखाओं में विभक्त हो जाती थी। एक रेलवे लाइन उत्तर और उत्तर-पूर्व की ओर ३३९ माईल्स जाती थी। वह जबलपुर में अलग हो जाती थी। वहाँ यह लाइन पूर्व रेलवे से मिलती थी। दूसरी लाईन१८६७ में पहली बार भुसावल से नागपुर और जबलपुर से इलाहाबाद रेल लाइन बनायी गयी थी। नागपुर इटारसी रेलमार्ग १९२३-१९२४ में शुरू हुआ। (History of Indian Railways, Government of India)

५. हरिनाथ डे – लोकहितकर्ता और भाषाविद् – सुनील बंदोपाध्याय, नॅशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पृ. ८

६. मध्य प्रदेश गॅजेटीयर, रायपुर के अनुसार उस प्रान्त में दिसम्बर, १८७७ और जनवरी, १८७८ में बारिश थी। किन्तु अगस्त-सितम्बर में नहीं थी। श्री महेन्द्रनाथ दत्त के कथनानुसार दत्त और डे परिवार ने नवम्बर में बारिश में ही यात्रा की थी।

७. श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बंगाली) खंड-१, महेन्द्रनाथ दत्त, पृ.क्र. ७-८ तथा The Life of Swami Vivekananda by Eastern and Western Disciples, पृ.क्र.३९-४०

८. गुरुचरन रामचन्द्रेर अनुध्यान (बंगाली) – महेन्द्रनाथ दत्त, पृ.क्र. १३-१४

९. श्रीरामकृष्ण द ग्रेट मास्टर – स्वामी सारदानंद (पृ.क्र. १०३२) तथा The Life of Swami Vivekananda by Eastern and Western Disciples, पृ.क्र. २१

१०. १८७५ में श्री जामदार पोद्दार जी ने नागपुर रेलवे स्टेशन के पास धरमशाला बनायी थी। सन्दर्भ – "नागपुर जिला गौरव" – दिनेश नखाते (इस पुस्तक के लेखक को भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी और भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे अब्दुल कलाम द्वारा सम्मानित किया गया है।)

११. मध्य प्रदेश, गॅजेटीयर १८७० – ग्रॅन्ट, चार्ल्स, प्रकाशक – नागपुर, मुद्रक – एज्युकेशन सोसायटी प्रेस, बॉम्बे, पृ.क्र. ६१, अस्थायी योजनाओं के अलावा यहाँ द्वितीय श्रेणी का धातुरहित, सेतुरहित किन्तु समतल, मुलायम रास्ता है। पानी के स्रोतों को पार करते समय ढलाने हैं। दरेंकसा, आमगाव, बगरबंद, तुमसर से होते हुए रायपुर से कामठी का रास्ता महत्त्वपूर्ण है। इस रास्ते पर बहुत आवागमन होता है। उमरवारा के पास जहाँ वैनगंगा को पार कर के जाना होता है, वहाँ ग्रीष्म ऋतु में नदी के रेतीले पात्र से एक आकर्षक रास्ता तैयार हुआ है। नागपुर से रायपुर मार्ग के सारे रास्ते द्वितीय श्रेणी की उत्तम प्रकार की मिट्टी की सड़के हैं। इन रास्तों पर सामान्यत: बैलगाड़ियों का उपयोग किया जाता है। नदी पार करने के लिए सागवान के बड़े लट्ठे को बाँधकर बनायी हुई नावों को किराये पर लिया जाता है।

टिप्पणी – इससे यह सिद्ध होता है कि दत्त परिवार ने इसी मार्ग से यात्रा की थी। यह मार्ग सुरक्षित था। गाँवों के पास-पास होने से जनसंख्या भी अच्छी थी। भंडारा जिले की पूरी जमींदारी इस मार्ग के आस-पास ही थी। इस मार्ग पर उस समय सबसे अधिक यातायात थी। (मध्य प्रदेश गजेटीयर १८७०)

१२. The Imperial Gazetteer of India, W. W. Hunter, C.S.I., C.I.E., LLD Director General of Statistics to the Govt. of India, Vol. II, 1885, – रायपुर की ओर जानेवाले मार्गों में से एक जिलास्तरीय मुख्य मार्ग से जाता है। वहाँ यह मार्ग 'दरेंकसा पास' को छोड़कर आगे जाता है। 'दरेंकसा पास' के समीप कुछ अद्भुत गुफाएँ हैं। ○○○

सारगाछी की स्मृतियाँ (७१)

स्वामी सुहितानन्द

स्वामी प्रेमेशानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

अरे ! भगवान स्वयं आए हैं, मन कहता है कि यह सूचना सबको दे दूँ। हमलोग तो कहने लगे, इस बार सत्ययुग आ गया है, सभी समान हो जायेंगे, कोई भेद-भाव नहीं रहेगा। 'हेलाय पड़े धूलाय शयन विश्वसभाय तार प्रयोजन' – मेरा यह भजन पराधीन भारत के समय का है। अब उतना अच्छा नहीं लगेगा। ठाकुर के आने से लगता है कि बच गया हूँ। मैं तो विह्वल हो गया था – क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ! सौभाग्यवश ठाकुर ने आश्रय दे दिया। सिलेट में ठाकुर की वाणी से सबको मतवाला कर दिया था। सर्वप्रथम ठाकुर के सम्बन्ध में गिरीश बाबू और देवेन बाबू आदि ने भजन लिखा था, तदुपरान्त बीच में कुछ दिन ठाकुर का भाव मानो दब-सा गया था। तब सिलेट से लहर उठी, एकदम से प्रेम की, भजन की बाढ़ आ गई। मैं भजन लिखता और सौम्यानन्द को लेकर सब-डिवीजन (तहसील) में सभा कर युवकों को जुटाता था। कैसे दिन बीते हैं ! फूस का छोटा घर, खाने को कुछ नहीं। कुलीन घरों के बच्चे बैगन की खेती करते थे ! भुना हुआ बैगन, भात और मसूर की दाल। एकादशी की रात को भीगी हुई मूँगदाल।

सिलेट में सार्वजनिक सभा थी। एक भजन गाना था। सौम्यानन्द ने कहा – तैयारी नहीं है, क्या करें ! समापन भजन था। तब मैंने कहा – तुम हारमोनियम बजाओ, मैं गाता हूँ। कैसे भाव के साथ गाया था, कौन जाने ! 'कोकिल कूजने' नामक भजन को राधू ने लिखकर रखा था, बीच-बीच में माँ को गाकर सुनाती थी। शरत् महाराज ने एक दिन गाया था। मैं हारमोनियम का घोर विरोधी हूँ। किन्तु हारमोनियम के बिना गीत गाने के लिए जैसा भाव (संवदेनशीलता) चाहिये, वैसा ही मधुर कण्ठ भी चाहिए। महापुरुष महाराज ने एक दिन बड़े ही मधुरकण्ठ से नृत्य करते हुए गाया था। एक दिन मैंने महापुरुष महाराज से पूछा, 'तव हासि राशि', क्या यहाँ ठीक हुआ हैं? उन्होंने कहा – ''हाँ, हाँ, ठीक हुआ है।'' मास्टर महाशय ने एक दिन 'ओ काठूरे तुइ दूर वने जा' (अरे लकड़हारे तुम दूर बन में जाओ) नामक भजन सुनाया था।

'येन विस्मृतो कतो स्वप्नेते श्रुत' – मेरा यह मौलिक विचार नहीं है। बंकिम बाबू एक जगह लिखते हैं, ''बहुकाल अतीत विस्मृत सुख स्वप्न समान ...।' यह बात बाल्यकाल में पढ़कर मैं चौंक उठा था।

७-४-१९६१

प्रश्न – स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) और अन्य महाराज लोगों में क्या अन्तर है?

महाराज – स्वामीजी 'अहं ब्रह्मास्मि', इस भाव में रहते थे, बस थोड़ा-सा भेद है। वह न रहने पर फिर आएँगे कैसे! महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) आदि लोग ईश्वरकोटि के थे, कोई एक भाव लेकर सविकल्प समाधि में रहते थे। ठाकुर ने लाल सुरखी का रास्ता देखा था – एक ओर नरेन्द्र और एक ओर राखाल आदि महाराज। नरेन्द्र ध्यानमग्न थे, केदार झाँक कर तुरन्त दूसरी ओर हट गए। शरत् महाराज, शशी महाराज, मास्टर महाशय आदि नित्य जीव हैं। ठाकुर ने शरत् और शशी महाराज को ईसामसीह के दल में देखा था। मास्टर महाशय से ठाकुर कहते थे – ''तुम्हारा भागवत-पाठ सुनकर ही समझ गया कि तुम कौन हो।''

२०-४-१९६१

महाराज – संन्यास बड़ी अमूर्त वस्तु है, सहज ही इसे नहीं समझा जा सकता। कुछ दिनों तक गुरु के पास रहकर इस सम्बन्ध में सुनने से इसकी थोड़ी धारणा होती है। संन्यासी दृढ़व्रती मुमुक्षु होता है। वह सच्चे भाव से जीवन-यापन करता है, उसमें कोई असाधु आचरण नहीं दिखेगा। किन्तु संन्यास इससे भी बहुत पृथक है।

बहुत-से लोग इस समय ठाकुर के तत्त्व की ओर दृष्टि

न रखकर मताग्रही लोगों की तरह शिष्य बनना चाहते हैं। सर्वप्रथम देह, प्राण, अन्नमय-प्राणमय कोश के बारे में सजग रहना होगा। मन-बुद्धि की क्रियाओं को जानना होगा। जैसे गीता में भगवान कहते हैं – अधिष्ठानम् = देह, कर्ता = मैं, करण = ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, चेष्टा = प्राण, दैव = क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम। बहुत घुमा-फिराकर लिखा गया है। हमलोग तो एक बार में ही सहज भाव से 'कोशा: पंच' कह देते हैं, ये सब विलक्षण बातें हैं।

प्रश्न – हम लोग इसे ठीक से क्यों नहीं समझ पाते हैं?

महाराज – स्थिर समुद्र निर्गुण ब्रह्म है और तरंगायित समुद्र सगुण ब्रह्म है। प्रत्येक तरंग एक-एक जीवात्मा है, जो मुख के ऊपर आवरण रखकर कर्ता बनकर संसार का भोग कर रही है। देखो न, घर में बच्चों का जब तक विवाह नहीं होता, तब तक वे पिता के साथ एकात्मभाव से रहते हैं, तदुपरान्त विवाह हो जाने पर वे गृहस्वामी हो जाते हैं। वे अनुभव करने लगते हैं – 'मैं' हूँ। फिर वह बच्चा पिता बन जाता है, अपने पिता को बिल्कुल ही भूल जाता है। उसका अलग ही संसार हो जाता है। यह बात कैसे भूली जा सकती है।

आवश्यकता का बोध होने पर इच्छा होती है। जिसने इस संसार का 'रस' नहीं चखा, उसे इस रस से वैराग्य नहीं होगा। उसे अन्य किसी उत्कृष्टतर रस की जरूरत का बोध भी नहीं होगा। असली बात है – इच्छा, इच्छा रहने से हजार प्रतिकूल परिस्थितियों में भी बहुत आगे बढ़ा जा सकता है। इच्छा रहने पर ब्रह्मज्ञान भी हो सकता है। **(क्रमशः)**

पृष्ठ ४०३ का शेष भाग

करने के लिये गये। इस भेंट के एकमात्र साक्षी वे पत्र हैं, जिसे सिस्टर निवेदिता, जो स्वामी विवेकानन्द की आयरिश शिष्या थीं एवं जिन्होंने भारतवर्ष के उत्थान के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था, ने ३० जनवरी एवं ७ फरवरी, १८९९ को स्वामीजी की अमेरिकन शिष्या कु. जोसेफिन मैकलाउड को लिखा था।

"तो आप देखते हैं कि पादशाह आये एवं अपनी एक छाप छोड़ गये। व्यापार और उसके महत्त्व के अतिरिक्त वे अपने लिये ही प्रसिद्ध हैं। मैं उन्हें सदैव एक मित्र के रूप में देखती हूँ। वे वस्तुओं को बड़ी सूक्ष्मता से देखते हैं। पर वे नायकोचित गुणों से पूर्ण हैं एवं उनकी बहन तो सन्त हैं। पादशाह एवं कुमारी पादशाह तो सन्त हैं।"[४]

इससे सिद्ध होता है कि जमशेदजी के स्वप्न को पूरा करने के लिये स्वामीजी और पादशाह संयुक्त रूप से सक्रिय थे।

(क्रमशः)

सन्दर्भ :

1. S. Ranganathan, *Many Ramayanas : In Pursuit of the History of the Foundation of IISc and NIAS, IISc and NIAS Discussion meetting,* November 12, 2008.

2. B.V. Subbarayappa, *In pursuit of Excellence : A History of the Indian Institute of Science,* Tata McGraw-Hill, 1992.

3.T.A. Abinandanan, *The fate of humanities and social sciences at IISc,* February 11, 2008. (http://nanopolitan.blogspot.in/2008/02/fate-of-humanities-and-social-sciences.html)

4.Sankari Prasad Basu, *Vivekananda, Nivedia, and Tata's Research Scheme - I', Prabuddha Bharata,* Advaita Ashrama, Mayavati, Himalayas, pp.413-420, October 1978.

5. Talk by APJ Abdul Kalam. (http://apc.iisc.ernet.in/iisc_tata_vivek_kalam.htm)

6. B.M.N. Murthy, The Indian Institute of Science, Bangalore. The Role of Swami Vivekandnda in its founding' April 3, 2011. (http://murtymandala. blogspot.in/2011/04 indian-institute-of-science-and -swami.html)

7. P. Balaram, 'The Birth of the Indian institute of Science', *Current Science,* Editorial, Vol. 94, No.1, January 10, 2008.

8. S.P. Basu, 'Vivekananda, Nivedita, and Tata's Research Scheme - II', *Prabuddha Bharata,* Advaita Ashrama, Mayavati, Himalayas, pp. 449-458, November 1978.

9. Ramachandra Guha, *'An Indian Institute',* The Hindu, April 12, 2009.

कान्हा को माँ यशोदा ने ऊखल से बाँधा

छोटे बच्चे तुतलाती भाषा में अपने छोटे-छोटे हाथ और छोटे-छोटे पैरों से जब शैतानी करते हैं, तब उनके माता-पिता उन्हें भले ही डाँटते हों, किन्तु बच्चों की शरारत में उन्हें बहुत आनन्द आता है। माँ जब देखती है कि उसका लाला कुछ अधिक बिगड़ने लग गया है, तब वह झूठ-मूठ का गुस्सा कर उसे डाँटती है। कान्हा भी बचपन में ऐसी बहुत शरारतें करता था। इसलिए तो उसे नटखट गोपाल भी कहते हैं।

गोकुल में माता यशोदा और नन्दबाबा के पास बहुत-सी गाये थीं। दूध, दही, माखन किसी भी वस्तु की वहाँ कमी नहीं थी। नन्दबाबा के घर अनेक सेवक-सेविकाएँ थे। सब चाहते थे कि वे किसी भी तरह छोटी-मोटी कान्हा की सेवा कर सकें। एकबार माता यशोदा की इच्छा हुई कि वे अपने हाथों से दही मथकर उसका माखन निकालकर अपने कान्हा को खिलाए।

भोर में माँ यशोदा ने देखा कि कान्हा गहरी नींद में सोया हुआ है। उस समय वह नन्हा-सा दूधमुँहा बच्चा था। यशोदा मैया ने घर की सेविकाओं को दूसरे कामों में लगा दिया और स्वयं दही मथना शुरू कर दिया। पहले के जमाने में मिट्टी के बर्तन में दही डालकर उसे मथानी से नेती के द्वारा बिलोते थे। रस्सी को नेती भी बोलते हैं। आज भी बहुत-से गाँवों में इसी प्रकार दही बिलोकर मक्खन निकाला जाता है।

तो, मैया यशोदा बड़े आनन्द से दही मथ रही थीं। मन में केवल एक ही विचार था कि आज अपने हाथों से माखन बनाकर कान्हा को खिलाऊँ। नेती खींचते रहने से मैया की बाहें थोड़ी थक गई थीं। उनके ललाट पर पसीने की बूँदें झलमला रही थीं। उसी समय कान्हा नींद से उठकर मैया के पास आया। वह माँ से दूध पिलाने के लिए हठ करने लगा। मैया का कहना था कि थोड़ी देर में ही माखन निकालना हो जाएगा, उसके बाद वे दूध पिलाएँगी। पर कान्हा क्या ऐसे ही मानने वाला था? उसने अपने कोमल नन्हे हाथों से मथानी को पकड़ लिया। अब तो मैया कुछ नहीं कर सकतीं। उन्होंने कान्हा को गोद में लेकर दूध पिलाना शुरू किया। कान्हा थोड़ा दूध पीता है और फिर अपनी चंचल चितवन से मैया को देखता है। मैया भी बड़े प्रेम से लाला को देख रही थीं और हँस रही थीं।

अरे, यह अचानक क्या हुआ? मैया कान्हा को जमीन पर रखकर तुरन्त भागीं। हुआ यह कि उन्होंने अंगीठी पर दूध गरम करने के लिए रखा था और उसमें उफान आ गया। मैया जानती थीं कि उनका कान्हा केवल पद्मगन्धा गाय का ही दूध पीता है। दूध उफनकर गिर जाता, तो कान्हा को दूध पीने के लिए नहीं मिलता। जो भी हो, यह तो मैया ने सोचा, किन्तु कान्हा तो गुस्से से लाल हो गया। उसे अच्छा नहीं लगा कि मैया अचानक दूध पिलाना बन्द करके उसे जमीन पर रखकर चली गईं। कान्हा ने दोनों हाथों से पत्थर उठाकर दही का मटका फोड़ दिया। उसके अन्दर का माखन-छाछ यहाँ-वहाँ बिखर गया। कान्हा दूसरी जगह जाकर बाँसी माखन खाने लगा।

मैया जब वापस आयीं, तो देखा कि मटका टूटा हुआ है। वे समझ गईं कि यह सब उनके कान्हा की करतूत है और हँसने लगीं। वे कान्हा को ढूँढ़ने गईं और देखा कि वह उलटी रखी हुई ओखली पर खड़ा होकर ऊँचे छींके से माखन निकाल रहा है और बन्दरों को भी दे रहा है। वह बीच-बीच में पीछे देख भी रहा है कि कहीं मैया उसे देख तो नहीं रही है ! कान्हा ने देखा कि मैया हाथ में छड़ी लिए उसकी ओर आ रही है। वह ओखली से कूदा और भागा। कान्हा आगे-आगे भाग रहा है और मैया उसके पीछे। आखिर छोटे-छोटे पैरों से कान्हा कितना भागेगा, मैया ने उसे पकड़ ही लिया। मैया के हाथ में छड़ी देखकर कान्हा बहुत डर गया। मैया ने तुरन्त छड़ी फेंक दी। उन्हें लगा कि उनका लाला कहीं डर के मारे यहाँ-वहाँ भाग न जाए, इसलिए उसे रस्सी से ओखली पर बाँध देना चाहिए।

मैया अपने कान्हा को रस्सी से बाँधने लगती हैं। मैया

शेष भाग पृष्ठ ४२० पर

आध्यात्मिक जिज्ञासा (३ ३)

स्वामी भूतेशानन्द

– महाराज, क्या वे लोग हमारे मठ के साधु थे?

महाराज – तो और क्या? तो क्या तुम गंगासागर के साधु सोच रहे हो? (सभी हँसते हैं)

– महाराज ! वहाँ कौन-कौन साधु आते थे?

महाराज – बहुत से साधु आते थे। उन आनेवालों में थे – निर्वेदानन्दजी, उनके सहयोगी भरत महाराज (सन्तोषानन्दजी)। ज्ञान महाराज तो आते ही थे। बाद में शरत महाराज आए। अनेक साधु आते थे। इधर हमारी ब्रह्मचर्य लेने की बहुत इच्छा थी। एक दिन मैंने शरत् महाराज को बताया। उन्होंने कहा – जाओ, महापुरुष महाराज को कहो न। मैंने कहा – महापुरुष महाराज से मुझे डर लगता है। उन्होंने हमारा संकोच समझ लिया। उन्होंने ज्ञान महाराज को बुलाकर कहा कि इसे ब्रह्मचर्य हेतु बेलूड़ मठ में महाराज के पास ले जाओ। ज्ञान महाराज नहीं चाहते थे कि सभी लोग मठ में सम्मिलित होकर साधु हो जायँ। उनका विचार था – त्याग का भाव लेकर रहना, लोक-कल्याणकारी कार्य करना इत्यादि। वह उनका एक भाव था। वे स्वयं वैसे ही थे न। स्वामीजी ने उन्हें उसी भाव में रहने को कहा था। स्वामीजी ने उन्हें संन्यास नहीं दिया था। यद्यपि वे गेरुआ वस्त्र पहनते थे। जो भी हो, शरत् महाराज का आदेश था। ज्ञान महाराज मुझे मठ में ले आये। उन्होंने महापुरुष महाराज को हमारी बात बताई कि शरत् महाराज ने भेजा है। महापुरुष महाराज तो सदाशिव थे। शरत् महाराज ने भेजा है, इसे सुनकर उन्होंने कहा – ठीक है, बहुत अच्छा, इसे ब्रह्मचर्य दूँगा। किन्तु पढ़ाई नहीं छोड़ोगे। अभी मठ में सम्मिलित नहीं हो सकेगा। पढ़ाई पूर्ण करने के बाद सम्मिलित होगा। मैंने सोचा, ठीक है, वैसा ही करूँगा। क्योंकि ब्रह्मचर्य दीक्षा लेने से पढ़ना होगा और पढ़ाई छोड़ने पर ब्रह्मचर्य नहीं होगा। इसलिए ब्रह्मचर्य दीक्षा हो जाय। पढ़ाई-लिखाई करूँगा। महापुरुष महाराज ने ब्रह्मचर्य-दीक्षा दे दी। तब मैं कॉलेज में पढ़ता था। कॉलेज में जाता था। बाद में परीक्षा आई। परीक्षा दी। अन्तिम दिन की परीक्षा देने के बाद, परीक्षा हॉल से निकलकर सीधे बेलूड़ मठ चला आया। वही हमेशा के लिए बेलूड़ मठ आना हुआ। ठीक है, यही तो संक्षेप में तुम लोगों ने सुना। यह एक रूपरेखा हुई, और क्या।

प्रश्न – महाराज अपने जीवन की तपस्या की कुछ बातें कहिये न।

महाराज – देखो, तथाकथित तपस्या मैंने विशेष कुछ नहीं की है। तपस्या से दो प्रकार की बात समझ में आती है – पहला कठोर तप (मिताहार संयमादि) और दूसरा है – भगवान में मन लगाने का प्रयास करना। जो पहली तपस्या है, उसे मैंने स्वेच्छा से कभी नहीं किया। किन्तु वहाँ की परिस्थिति के अनुसार, वहाँ जो मिलता था, उसी से सन्तुष्ट रहना पड़ता था। वहाँ उससे अधिक व्यवस्था नहीं थी। इसीलिए कष्ट सहना पड़ा। इसे तपस्या कह सकते हो। किन्तु मैं तपस्या करूँगा, इसलिए वैसा कष्ट सह रहा हूँ, वैसी बात नहीं थी।

जैसे उत्तरकाशी में रहते समय वहाँ की ऐसी ही व्यवस्था थी। जो कोई भी वहाँ क्यों न रहे, उसे वैसे ही रहना होगा। हाँ, किन्तु मैंने शरीर को अनावश्यक कष्ट नहीं दिया, क्योंकि शरीर की रक्षा करनी होगी। वहाँ धरती पर सोना पड़ता था। नीचे कुछ खर बिछा लेता था, जिससे अधिक ठंडा न लगे। भिक्षा पर्याप्त मिल जाती थी। कम-से-कम एक बार भरपेट भोजन करता था। हमलोगों से अधिक कष्ट सहन करनेवाले साधुओं को भी मैंने देखा है। उन्हें भिक्षा तक नहीं मिलती थी। परन्तु इन सबसे कभी दुख का अनुभव नहीं हुआ। क्योंकि हमलोगों ने स्वेच्छा से इस जीवन को वरण किया है।

– महाराज, वर्तमान सुख-सुविधासम्पन्न युग में कैसे तपस्या के मनोभाव को बनाये रखा जाय?

महाराज – क्या कह रहे हो – सुख-सुविधा। अरे सम्पन्नता, सुख-सुविधा देखना हो, तो पाश्चात्य देशों में देखो। क्या सम्पन्नता है, सुख-सुविधा है, उसकी तुलना में हमारे

यहाँ कहाँ सम्पन्नता है? हाँ, हमारे उत्तरकाशी के दिनों की तुलना में सम्पन्नता अधिक कही जा सकती है। किन्तु तब देश की ऐसी ही अवस्था थी। सम्प्रति देश की प्रगति हुई है। साथ ही साधुओं के जीवन में भी कुछ समृद्धि आई है। उस समय चाहकर भी उससे अच्छा रहना सम्भव नहीं था। देश में निर्धनता और दुख सर्वत्र एक समान ही था।

जब लोगों को भोजन नहीं मिलता है, तो उसे भुखमरी कहते हैं। जब हमलोगों को भोजन नहीं मिलता है, तो उसे भुखमरी नहीं कहते हैं, उसे उपवास कहते हैं। भुखमरी और उपवास में भेद समझते हो? साधु का भूखा रहना उपवास है। एक स्वेच्छा से भूखा है और दूसरा अनिच्छा से भूखा है। दूसरों की दृष्टि में तपस्या हो सकती है। किन्तु साधु को क्यों दुख होगा, उसे कोई दुख नहीं होगा। ये सब बातें बड़ी कठोर हैं। अच्छा, मैं अपने जीवन की एक घटना कहता हूँ। तब मैं उत्तरकाशी में था। मैं वहाँ हूँ, इसलिए मेरे एक परिचित भक्त ने तीन रुपये भेजे थे। किन्तु तीन रुपये तो छोड़ दो, एक पैसा भी खर्च नहीं होता था। मैंने उन्हें पत्र लिखा - "मुझे रुपयों की आवश्यकता नहीं है, कृपया न भेजें।"

— महाराज ! आपने एक तो कठोर साधना की, तपस्या की दृष्टि से बात कही। तपस्या का दूसरा दृष्टिकोण है, जिसके सम्बन्ध में आपने प्रारम्भ में कहा था – भगवान की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करना, उनका स्मरण-मनन करना, उनको प्राप्त करने का प्रयास करना। इसके सम्बन्ध में अपने जीवन की कोई बात कहिए न।

महाराज — मैं अपनी बात क्या कहूँगा? हमलोगों के आदर्शानुसार कुछ कहूँगा।

— उसी दृष्टि से कहिए।

महाराज — अभी तो कहा। साधुओं का कष्ट-सहन, कठोर तप स्वेच्छा से है। वहाँ किसी प्रकार की बाध्य-बाधकता, विवशता नहीं है। कोई दबाव दे रहा है, तब कर रहा हूँ, ऐसा नहीं है। इस दृष्टि से तपस्या का अर्थ है, कुछ दिन के लिये सभी प्रकार के सम्बन्धों को तोड़कर एकान्त में भगवान का चिन्तन करना। सामान्यत: आश्रम में रहकर ऐसा करने से तपस्या नहीं कहा जाता है। तपस्या का अर्थ है – केवल भगवान के लिये समय देना। अकेले रहकर उनका ध्यान-भजन करना। उनके लिये रोना। बिना आँसू बहाये ईश्वर-दर्शन सम्भव नहीं है।

— किन्तु महाराज ! जो ज्ञानी है, ज्ञानमार्ग से साधना कर रहा है, क्या उसे भी रोना होगा?

महाराज — आँसू बहाना एक प्रतीक है। इसका अर्थ केवल आँख से आँसू बहाना नहीं है। इसका अर्थ दुख-कष्ट सहना है। ज्ञानी को भी दुख-कष्ट सहना पड़ता है, उसको भी बहुत पीड़ा होती है। अर्थात् ज्ञानी हो या भक्त, बिना कष्ट के कुछ भी नहीं मिलता। संघर्ष का अर्थ ही है दुख। संघर्ष कभी आनन्ददायक नहीं होता। **(क्रमश:)**

प्रेरक लघुकथा

निन्दक दूर न कीजिये दीजै आदर मान

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

एक व्यक्ति अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन का प्रखर आलोचक था । वह खुलेआम लिंकन की निन्दा करता रहता था । जब रक्षामंत्री का पद रिक्त हुआ, तो लिंकन ने उसी व्यक्ति को उस पद पर नियुक्त कर दिया । यह देखकर कुछ मंत्रियों ने लिंकन के पास जाकर कहा, "क्या आप जानते हैं कि वह व्यक्ति सार्वजनिक स्थलों पर आपकी भर्त्सना और आलोचना करता रहता है? उसने आपको 'गोरिल्ला' नाम दिया है और 'भोंडा', 'मूर्ख' कहकर आपकी हँसी उड़ाता है ।" "जानता हूँ, खूब जानता हूँ," लिंकन ने शान्त स्वर में कहा । "तो क्या आपने उसका मुँह बन्द रखने के लिये यह ऊँचा पद दे दिया? क्या आपको विश्वास है कि वह आपके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा और आपको नीचा दिखाने की कोशिश नहीं करेगा ।" एक मंत्री ने पूछा ।

लिंकन ने कहा, "ऐसा कुछ भी नहीं होगा । मैंने जो भी निर्णय लिया है, वह सोच-समझकर लिया है । आलोचक किसी की आलोचना करने से पहले सोचता है, उसके कार्यों की समीक्षा करता है । वह यह भी सोचता है कि क्या किया जाना चाहिये था । वैसा न होने पर ही वह उच्च पदस्थ व्यक्तियों की निन्दा करने का दुस्साहस करता है । वह किसी काम को अधिक अच्छा करने की क्षमता रखता है । ऐसी क्षमता वाले व्यक्ति गुणी और योग्य होते हैं । ऐसे सामर्थ्यवान व्यक्ति का हमें सम्मान करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति पद पाने पर उस पद की प्रतिष्ठा को बनाये रखता है और सीमा से परे नहीं जाता ।"

अपनी निन्दा किये जाने पर मनुष्य को बुरा नहीं मानना चाहिए । उसे न तो हतोत्साहित होना चाहिए, न ईर्ष्या-द्वेष करना चाहिए और न ही प्रतिशोध की भावना पनपने देनी चाहिए, अपितु आत्म-परीक्षण करके अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । OOO

जीवन का सच्चा सौन्दर्य

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

परमार्थ जीवन छोड़ कर कभी संसारी जीवन नहीं बिताना चाहिए। हमारे विचार शुद्ध और पवित्र होने चाहिए। मनुष्य की विशेषता यह है कि जब जागे, तभी से आध्यात्मिक जीवन बिताना शुरू कर दे। हमारे जीवन का सर्वस्व हमारा विचार है। हमारे जीवन में संसार का जोड़-तोड़ अधिक रहता है, उसमें ही हमारा मन उलझा रहता है। हमें उस सांसारिकता से निकलकर आध्यात्मिकता की बात सोचनी चाहिये, आध्यात्मिकता की ओर ही अग्रसर होना चाहिये। यह सिद्धान्त है कि जो हम सोचते हैं, वही हो जाते हैं। इसलिए हमारे विचार शुभ, शुद्ध और पवित्र होने चाहिए। बाहर की सुन्दरता हमें भीतर की सुन्दरता को नहीं देखने देती है। बाहर की सुन्दरता हमें बहिर्मुख होने को विवश कर देती है। ऐसी माया है कि बाहरी सुन्दरता में मुग्ध होने के कारण अपने भीतर के सुन्दर गुणों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। जब तक हमारा मन बाह्य आकर्षण में लगा रहेगा, तब तक अन्तर्मुखी नहीं होगा और अपने भीतरी गुणों की ओर आकर्षित नहीं होगा। लेकिन हमें जानना चाहिये कि हमारी सुन्दरता हमारे सत्कर्मों और सद्भावों के कारण है। इसमें पिछले जन्मों के शुभ कर्मों से उत्पन्न शुभ संस्कारों से भी हमें सहायता मिलती है। अच्छे संस्कारों से हमारा बाहरी आकर्षण कम हो जाता है। सांसारिक ईर्ष्या-द्वेष आदि हमारे सद्‌गुणों को ढक देते हैं, हमारी सुन्दरता को नष्ट कर देते हैं। बाहर के सौन्दर्य में आसक्त रहोगे, तो भगवान के सौन्दर्य को पहचान नहीं सकोगे। इसलिये हमें अपने मन से अशुद्ध विचारों को निकालकर शुद्ध विचारों से भर देना चाहिए। दूसरों का कभी अपमान नहीं करना चाहिये। हमारे मन में ईर्ष्या के बदले प्रेम होना चाहिए।

हमेशा याद रखना चाहिये कि अच्छे संस्कारों से ही जीवन उन्नत होता है। जीवन में सुन्दरता कैसे आती है? स्त्री को सेवापरायणा और आज्ञाकारिणी होना चाहिए। पत्नी को पति के प्रति समर्पित होना चाहिए। घर की सब व्यवस्था करनेवाली, सबकी सेवा करनेवाली, ऐसी चरित्रवान स्त्री ही सुन्दर कहलाती है। जो भी घर में स्वजन-परिजन हैं, सगे-सम्बन्धी आते हैं, उन सबके साथ प्रेम का व्यवहार करे, तभी सुन्दरता प्रकट होती है। पुत्र-पुत्रियों को सदाचारी, आज्ञाकारी और विनम्र होना चाहिये। उन्हें बड़ों को श्रद्धा करनी चाहिये। उन्हें अपने अभिभावकों, परिजनों और शिक्षकों से श्रद्धापूर्ण व्यवहार करना चाहिये और अपने से छोटों से प्रेम करना चाहिये। पुरुषों को सदाचारी होना चाहिये। परिवार में सबसे स्नेह करना चाहिये। दूसरों की सहायता करनी चाहिये। सबसे सद्‌व्यवहार और सबकी सहायता करना ही हमारा सुन्दर रूप है।

समाज में रहने के लिये बाह्य सौन्दर्य की जितनी आवश्यकता है, उतना ही उपयोग करो, पशु और पागल के जैसे मत्त मत रहो। मानव जीवन के सौन्दर्य की परिभाषा है – सज्जनता। सबको हमेशा सभ्य आचरण करना चाहिए। समाज में मर्यादित आचरण करना चाहिये। हमारी उदारता में, शुद्ध जीवन में ही जीवन का सौन्दर्य है।

भगवान ने संसार में रहने का उपाय बताया कि सब कर्तव्य कर्म करते हुये मेरा भजन करो। भगवान का स्मरण करने से, उनका भजन करने से जीवन में सच्चे सौन्दर्य का उदय होता है। भगवान के उपदेशों का जीवन में सच्चाई से पालन करें। सबके कल्याण की कामना करें। भगवान से प्रार्थना करें – "हे प्रभो ! हमारे मन में कभी स्वार्थ न आये। मैं जीवन में कभी गलत काम न करूँ। मेरे मन में कभी किसी के प्रति भी राग-द्वेष-कुटिलता न हो। हमारे मन में सद्‌गुणों का विकास हो और दुर्गुणों का नाश हो। हमारी दिन-प्रतिदिन आपके प्रति भक्ति बढ़े।" इस प्रकार भगवान से सबके कल्याण के लिये प्रार्थना करते हुये उनके शरणागत होकर रहना चाहिये। अपने मन में बाल-सुलभ सरलता होनी चाहिये। जैसे बच्चा माँ पर आश्रित रहता है, वैसे हमें भगवान के आश्रित रहना चाहिये। यही जीवन का सच्चा सौन्दर्य है। ○○○

जो व्यक्ति अपने प्रति घृणा करने लगा है, उसके पतन का द्वार खुल चुका है और यही बात राष्ट्र के सम्बन्ध में भी सत्य है । हमारा पहला कर्तव्य है कि अपने प्रति घृणा न करें, क्योंकि आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में ।

– स्वामी विवेकानन्द

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (२५)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

अध्यक्ष, रामकृष्ण आश्रम, राजकोट

स्वजन की मृत्यु का आघात लगे तब

जीवन में सबसे अधिक दुखदायी और आघातजनक यदि कोई घटना है, तो वह है किसी स्वजन की मृत्यु। अचानक किसी स्वजन की मृत्यु के आघात से कुटुम्बीजन टूट जाते हैं, विह्वल और अशान्त हो जाते हैं। अभी कल तक जो अपने साथ हँस-बोल रहे थे, वे आज कहाँ चले गये? क्या अब कभी नहीं मिलेंगे? यही बात जब परिवार के लोग स्वीकार नहीं कर पाते हैं, तब उनके लिये यह दुख असह्य हो जाता है। इकलौते पुत्र की मृत्यु के आघात से उसके पिता के सारे बाल एक ही रात में सफेद हो गये थे। दुर्घटना में पुत्र की मृत्यु के आघात से माँ पागल हो गई। ऐसी असंख्य घटनाएँ समाज में होती दिखाई देती हैं। इसमें जब कभी अकाल मृत्यु होती है, तब स्वजन उस आघात को सहन नहीं कर पाते हैं। आँसू, दुख और चिरविरह की वेदना की व्यथा जीवन भर कुटुम्बीजन सहते रहते हैं। समय-समय पर यह विदाई का घाव भरने के बाद ताजा हो जाता है। एक स्वजन की विदाई से कई लोगों का जीवन दुखी हो जाता है। ऐसी परिस्थिति से बाहर निकलने के लिए क्या करना चाहिए?

जीवन में पूर्ण रूप से निश्चित अगम्य कोई घटना है, तो वह है मृत्यु। वह निश्चित है, पर साथ-साथ सबसे अधिक अनिश्चित भी है। वह कभी भी जीवन में आकर हँसते-खेलते जीवन का तत्काल अन्त कर देती है। मृत्यु प्राप्त करनेवाला तो सभी बन्धनों को तोड़कर, अपनी देह को भी पृथ्वी पर छोड़कर सूक्ष्म लोक में चला जाता है, लेकिन उसके पीछे रहने वाले दुखी हो जाते हैं। यह दुख जीवन-भर बना रहता है। इस मृत्यु के दुख से मुक्त होने के निम्नलिखित दो मार्ग हैं –

प्रथम नकारात्मक मार्ग – दुख आ पड़ा है, तो केवल रोते, दुखी होते, भाग्य और विधाता को दोष देकर आँसू बहाते रहते हैं। फिर समय बीतने के साथ दुख भूलने लगते हैं। परिस्थितियाँ स्थिर होने लगती हैं। मनुष्य फिर संसार की लीक पर नये ढंग से अनुकूल होकर दैनिक जीवन के कार्यों में पूर्ववत् लग जाता है। अधिकांश लोगों के जीवन में ऐसा ही होता है और जीवन-चक्र चलता रहता है।

द्वितीय चिन्तन और ज्ञान का मार्ग – यह दूसरा मार्ग बुद्धि का मार्ग है। दुख का उपयोग करके चिन्तन द्वारा मृत्यु के रहस्य को प्राप्त करने का मार्ग है। जब स्वजन की चिरविदाई से जीवन में भयानक आघात लगे, तब रोने के बदले बुद्धि को सतेज करके मृत्यु पर चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि रोने से स्वयं तो दुखी होते ही हैं, मृतात्मा को भी दुख होता है। इसके बदले यदि प्रार्थना की जाय, तो अपने हृदय में शान्ति तो मिलती ही है, दिवंगत आत्मा को भी शान्ति मिलती है। हृदय में शान्ति होने से दुख कम हो जाता है और चिन्तन होने लगता है कि आखिर मृत्यु है क्या? कुमार सिद्धार्थ के जीवन में ऐसी घटना घटी थी। उन्होंने कभी मृतदेह नहीं देखी थी। अग्निसंस्कार के लिये ले जाते शव को देखकर उन्होंने अपने रथ के सारथि से पूछा –

''ये लोग इस आदमी को ऐसे बाँधकर कहाँ ले जा रहे हैं?''

''यह आदमी मर गया है, इसलिए इसे बाँधकर श्मशान ले जा रहे हैं।''

''लेकिन उसे बाँधा है, तो वह बोलता क्यों नहीं?''

''क्योंकि वह मर गया है, वह अब निष्प्राण हो गया है, इसलिए वह अब कभी नहीं बोलेगा।''

''तो अब उसका क्या करेंगे?''

''अब उसे जला देंगे।''

''अरे रे, तो क्या उसे दुख नहीं होगा?''

''नहीं, अब उसे कुछ भी नहीं होगा, उसका सब कुछ समाप्त हो गया है। अब उसमें सुख-दुख जैसी कोई भावना नहीं होगी।

''अच्छा? तो क्या इसकी तरह दूसरे भी मरते हैं?''

''हे राजकुमार ! सबको मरना है। एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जिसका जन्म हुआ है और उसकी मृत्यु न हो।''

''तो क्या सभी मरने के लिये ही जीते हैं?''

''हाँ, प्रत्येक का अन्तिम गन्तव्य स्थान वही है।''

''तो क्या मुझे भी मरना पड़ेगा? मेरे पिता कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन, मेरी प्रिय यशोधरा, पुत्र राहुल, क्या इन सबको मरना पड़ेगा? छंदक ! क्या तू और मैं भी मर

जाएँगे?''

''हाँ, हम सब मर जाएँगे।''

'परन्तु कब?''

''यह नहीं कह सकते हैं। मृत्यु तो कभी भी आकर मनुष्य के प्राण ले सकती है। वह किसके प्राण को कब ले जाएगी, इसे कोई भी नहीं जानता है।''

एक रोगी और एक वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ को पता चला कि प्रत्येक मनुष्य की ऐसी स्थिति होती है और फिर वह मर जाता है। यह जानकर उनके हृदय को तीव्रतम आघात लगा। उनका चित्त-तन्त्र विचलित हो गया। वे बेचैन हो गये। मृत्यु के आघात ने उन्हें सच्चे ज्ञान की शोध के लिए प्रेरित किया और उसके लिये उन्होंने महाभिनिष्क्रमण किया। अन्त में वे निर्वाण की प्राप्ति कर बुद्धत्व को प्राप्त हुए। यह है मृत्यु के दुख से सही ढंग से मुक्त होने का मार्ग। इस विषय में चिन्तन करने से हृदय में गहरी समझ जगती है कि जिसका जन्म निश्चित है, उसकी मृत्यु भी निश्चित है और जिसकी मृत्यु निश्चित है, उसका जन्म भी निश्चित है। इतना ज्ञान होने पर जीवन और मृत्यु दोनों एक खेल है, यह समझ आ जाती है।

मृत्यु को भी खेल के समान मानो – अधिकांश लोग जीवन को खेल मानकर अपना जीवन बिता सकते हैं, परन्तु वे मृत्यु को खेल के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इसलिए जब मृत्यु का सामना होता है, तो हतप्रभ हो जाते हैं। लेकिन वास्तव में मृत्यु भी एक खेल ही है। यदि जीवन के खेल को अच्छी तरह से खेलना हो, तो मृत्यु के खेल को भी स्वीकार करना चाहिए और खेल के नियमों का ठीक से पालन करना चाहिए। यदि नियमों का उचित पालन किया जाय, तभी अच्छी तरह से खेल खेल सकते हैं और उसमें सच्चा आनन्द मिलता है। इसलिये सर्वप्रथम उस खेल के नियम को जानना चाहिए।

खेल के दो नियम – जीवन और मृत्यु के खेल के दो अटल नियम हैं। एक है कर्म का नियम और दूसरा है पुनर्जन्म का नियम। ये नियम निश्चित हैं। कर्म का नियम कहता है कि अच्छे कर्म करोगे, तो अच्छा फल मिलेगा, बुरे कर्म करोगे तो उसका बुरा फल मिलेगा। बबूल बोओगे, तो कांटें ही लगेंगे, आम नहीं। जो कर्म के नियम को अच्छी तरह जान लेते हैं और उसका ठीक से पालन करते हैं, वे अच्छी तरह जीवन जी सकते हैं। वे जीवन के खेल के श्रेष्ठ खिलाड़ी तो बनते ही हैं, मृत्यु के खेल के भी श्रेष्ठ खिलाड़ी बनते हैं। परमात्मा के द्वारा दिये गये पृथ्वी पर के काल-खण्ड को वे उत्तम कर्मों से भर देते हैं, इसलिये उन्हें जीवन का सच्चा आनन्द मिलता है। उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है, जीवन बोझ नहीं लगता है और मृत्यु का भय भी नहीं रहता है। वे मृत्यु का आनन्द से स्वागत कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास होता है कि परमात्मा के दिये हुए जीवन-कार्य को पूरा कर अब मैं आनन्दधाम में जा रहा हूँ। उसे जाने का दुख नहीं होता है। सत्कर्मों द्वारा जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए कबीर जी ने भी कहा है –

जब तू आया जगत में, जग हँसे तुम रोय।
ऐसी करनी कर चलो, तुम हँसो जग रोय।।

अर्थात् सत्कर्मों द्वारा ऐसी परिस्थिति का निर्माण होता है कि ऐसे व्यक्ति की मृत्यु होने पर जगत रोने लगता है।

मृत्यु का स्मरण करो – यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया था कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? उसके उत्तर में युधिष्ठिर ने बताया कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि प्रतिदिन मनुष्य अपने सामने लोगों को मरते देखता है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि वह कभी नहीं मरेगा और उसी प्रकार जीवन जीता है। नाम, यश, कीर्ति, सत्ता और सम्पत्ति के पीछे उसकी दौड़ कभी समाप्त नहीं होती है। जीवन के अन्तिम समय में उसे होश आता है कि यह दौड़ व्यर्थ थी, तब तक बाजी हाथ से निकल चुकी होती है। इसलिए यदि मनुष्य को अच्छी तरह से जीना हो, तो मृत्यु का सतत स्मरण करना चाहिए। प्रत्येक दिन को यह मानकर शुरू करना चाहिए कि आध्यात्मिक साधना का यह पहला दिन है और पृथ्वी पर अन्तिम दिन है, तभी व्यक्ति उत्तम ढंग से जी सकता है।

सन्त एकनाथजी के जीवन का एक प्रसंग है। उनके पास एक व्यक्ति आया और कहने लगा, ''आप सभी परिस्थितियों में कैसे शान्त रहते हैं? आप मुझे भी शान्त रहने की कला सिखाइये।'' एकनाथजी ने उसके मुँह के सामने देखा और फिर गम्भीर होकर बोले, ''अरे भाई, यह मैं तुझे नहीं सिखा सकता, क्योंकि सात दिनों में तो तू मरने वाला है।'' यह सुनकर उसने कहा, ''अरे, क्या सात दिन में ही मेरी मृत्यु होने वाली है! मुझे तो अभी बहुत काम समेटना है।'' इसके बाद वह चला गया। फिर सातवें दिन एकनाथजी उसके घर गये, तो वह बीमार होकर बिस्तर में सो रहा था।

एकनाथजी ने पूछा, ''अरे, बिस्तर में क्यों सोए हो?''

''मैं कल से बीमार पड़ा हूँ। अब आज मैं मृत्यु की राह

देख रहा हूँ। आज मेरा सातवाँ अन्तिम दिन है।''

''किसने कहा?''

''क्यों? आपने ही तो कहा था कि तू सातवें दिन मरने वाला है।''

''हाँ, पर तू बता कि सात दिन में तूने किस-किसके साथ झगड़ा किया? तेरा मन कितनी बार अशान्त हुआ?''

''अरे, मेरे पास इतना समय ही कहाँ था। सिर पर मौत नजर आ रही हो, तो मैं किसके साथ झगड़ा करूँगा? और किसका बुरा बनूँ? सब समेटने में ही मेरे छ: दिन बीत गये।'' तब एकनाथजी ने कहा, ''मृत्यु का सतत स्मरण रखना ही प्रत्येक परिस्थिति में शान्त रहने का उपाय है और यही है जीवन जीने की कला का शिक्षण।'' इस सन्दर्भ में किसी ने सच ही कहा है –

जब तक मौत नजर नहीं आती,
तब तक जिन्दगी राह पर नहीं आती।
जिसने उसकी नजर को देख लिया,
उसे दुनिया नजर नहीं आती।।

मृत्यु का स्मरण जीवन को पवित्र रखता है और उसे ऊर्ध्वगामी बनाता है, फिर उस जीवन से मृत्यु के बाद के जीवन का निर्माण होता है। अर्थात् जो जीवन के नियम हैं वही मृत्यु के नियम हैं, और वह है पुनर्जन्म का सिद्धान्त।

(क्रमशः)

पृष्ठ ४१४ का शेष भाग

के लिए कान्हा उनका लाला हैं, किन्तु वे हैं साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण। कान्हा अब कृष्ण के रूप में अपनी थोड़ी लीला दिखाते हैं। मैया ने कान्हा को रस्सी से बाँधा, किन्तु वह दो अंगुल छोटी पड़ गई। मैया ने दूसरी रस्सी भी जोड़ी, किन्तु वह भी दो अंगुल छोटी पड़ गई। मैया ने अपने घर की सारी रस्सियाँ जोड़ डालीं, किन्तु हमेशा रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ जाती थी। वहाँ पास में खड़ी गोपियाँ खिलखिलाकर हँसने लगीं। मैया को स्वयं को भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि कान्हा की इतनी छोटी-सी कमर, फिर भी ऐसी क्या बात है कि वे उसे बाँध नहीं पा रही हैं।

वे बिचारी थक गईं। उनका शरीर पसीने से लथपथ हो गया। कान्हा ने देखा कि मैया बहुत थक चुकी हैं। अब वे स्वयं ही मैया की बाँधी गई रस्सी से बँध गए। यदि भक्त का मन पवित्र हो और हृदय सच्चा हो, तो भगवान भी उनके प्रेम में बँध जाते हैं। ○○○

शिकागो में व्याख्यान

प्राचार्य ओ. सी. पटले, आमगाँव

विवेकानन्द की वाणी थी, लक्ष्यवेधी बाण समान ।
दिग्विजय प्राप्त किये, दे शिकागो में व्याख्यान ।।
तोड़ सब माया के बन्धन धारण किये संन्यास,
तन में गैरिक वस्त्र उनके कान्ति स्वर्णाभास ।
भालचन्द्र विशाल उनका देह थी बलवान,
दिव्य वाणी से किया जग में सत्य का आह्वान ।
दिग्विजय प्राप्त किये, दे शिकागो में व्याख्यान ।।
निष्ठा अचल हिमगिरि-सी था भक्तिपारावार,
चित्त उदार अपार सिन्धुवत् नेत्रों में प्रेम-धार ।
तन-तपा था साधना में, मुख पर भव्य मुस्कान,
हृदय में थी अमित करुणा, असीम उनका ज्ञान ।
दिग्विजय प्राप्त किये, दे शिकागो में व्याख्यान ।।
देशभक्ति अटल उनकी, था जनोद्धार प्रयास,
सदा निःसृत वाणी से भारत का गरिमामय इतिहास ।
दिग्भ्रमित जग को सुनाया भारत-शाश्वत ज्ञान,
अमेरिका में सबको बताया शान्ति-सुख का निधान ।
दिग्विजय प्राप्त किये, दे शिकागो में व्याख्यान ।।
विश्वजन सभी उनके थे, था सब धर्मों पर प्रेम समान,
यश से गूँज उठा नभ-मंडल, भाव विश्वकल्याण ।
दिग्विजय प्राप्त किये, दे शिकागो में व्याख्यान ।।

विवेकानन्द का नाम

जगत में खोज रहा था मैं, मानव एक महान ।
अब मुझे मिल गया है विवेकानन्द का नाम ।।
जीवनभर वेदान्त का किये महिमा गान ।
किन्तु हृदय से करते थे सब धर्मों का सम्मान ।।
जगत में भारतवर्ष का बढ़ाया गौरव मान ।
विश्व में मुक्तकंठ किया सनातन धर्म का गान ।।
नव-भारत निर्माण का किया आजीवन काम ।
नवयुग की नई चेतना में बड़ा उनका योगदान ।।
कन्याकुमारी के तट पर कर भारत माँ का ध्यान ।
कहा दीनों की सेवा कर ये हैं प्रत्यक्ष भगवान ।।
जीवन-लक्ष्य सदा रहा हो विश्व का कल्याण ।
इस हेतु मूलमन्त्र दिया, श्रेष्ठ चरित्र-निर्माण ।।
जैसे प्रभु श्रीराम का कार्य किये हनुमान ।
वैसे विवेकानन्द ने किया रामकृष्ण का काम ।।
कैसे उन्हें मान लूँ केवल एक इन्सान ।
अब तो उनमें दीखते हैं, मुझको केवल भगवान ।।

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचिता

नैष्कर्म्यसिद्धिः

व्याख्याकार : स्वामी धीरेशानन्द, सम्पादन : स्वामी ब्रह्मेशानन्द

३५वें श्लोक में अज्ञान को कर्म का हेतु कहा गया है – 'कर्माज्ञानसमुत्थत्वात्'। अब इसको अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा बताते हैं –

ब्राह्मण्याद्यात्मके देहे लात्वा नाऽऽत्मेति भावनाम्।
श्रुतेः किङ्करतामेति वाङ्मनःकायकर्मभिः।।३९।।

ब्राह्मणादिरूप देहों में 'यही आत्मा है', ऐसी भावना से पुरुष श्रुति का दासत्व स्वीकार कर वाणी, मन और शरीर के द्वारा कर्म करता है।

कर्म अज्ञान का कार्य होने से, अपने कारण अज्ञान का निवर्तक नहीं हो सकता। अज्ञान के कारण कर्तृत्वादि अध्यास के कारण भी कर्म अज्ञान का निवर्तक नहीं है।

वर्ण, आश्रम, वय और अवस्था विशेष युक्त ज्ञानी विधि-निषेध से परे होता है –

देह में, अर्थात् पुरुष 'यह मैं हूँ ' ऐसी भावना स्थापित करता है। यह अविद्या का अन्वय हुआ। इससे, उसके अधीन कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सांसारिक कार्य करने का अधिकार उत्पन्न हो जाता है। यह संसार का अन्वय प्रदर्शित हुआ। इससे प्रेरित हो वह श्रुति के कर्माधिकार सम्बन्धी वाक्यों का दास हो जाता है। अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ' (अध्यास), अतः मुझे श्रुति में वर्णित ब्राह्मणोचित कार्य मन, वचन और काया से करने चाहिए, इस प्रकार सोचकर वह कर्म में प्रवृत्त होता है।

भागवत में चित्रकेतु राजा के पुत्र की एक कथा है, जिसमें यह बताया गया है कि देह के संसर्ग से ही राजपुत्र, अमुक की सन्तान, आदि अभिमान होता है। देह-संसर्ग नाश होने पर तो जीव ही कहलाता है।

अगले श्लोक में व्यतिरेक न्याय द्वारा यही बात सिद्ध की गयी है।

दग्धाखिलाऽधिकारश्चेद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः।
वर्तमानः श्रुतेमूर्ध्नि नैव स्याद्वेदकिंकरः।।४०।।

ब्रह्मज्ञान रूप अग्नि से जिस मुनि के समस्त कर्माधिकार भस्म हो गये हैं, वह श्रुति के सिर पर स्थित हो जाता है, वह पुनः कभी वेदों का दास नहीं बनता।

ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि से अज्ञान का नाश हो जाता है, उससे देहाध्यास तथा उससे उत्पन्न वर्णाश्रमादि का अभिमान नष्ट हो जाता है। तब कर्म करने का अधिकार नहीं रहता। ऐसा मुनि तो वेदादि श्रुति का चरम प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, अतः वह ब्रह्मरूप से श्रुति के ऊपर विद्यमान रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह श्रुति की अवज्ञा करता है। श्रुति तो सदा वन्दनीय ही रहती है। किन्तु वह श्रुति के कर्मकाण्ड सम्बन्धी निर्देशों के परतन्त्र नहीं होता – **कर्मकाण्डाद्यात्मकस्य वेदस्य भूमिं अप्रतिपाद्यतया शब्दशत्तय गोचर ब्रह्मपदे वर्तमानो वेदकिंकरो न स्यात् ब्रह्मभूत तथा विधिनिषेधातीतत्वात्।**

इस प्रकार अज्ञान-व्यतिरेक से कर्म-व्यतिरेक बताया गया। ज्ञानी से भिन्न व्यक्ति कैसा होता है? वह घनघोर अविद्या से आवृत अन्तःकरण के कारण कर्तृत्त्वादि अभिमान प्राप्त करता है। उससे कर्माधिकार प्राप्त होता है तथा विधि-निषेध में संलग्न हो जाता है। इससे कर्म में प्रवृत्ति होती है।

शुभ कर्म से देवत्व और निषिद्ध कर्म से नारकीय योनि मिलती है। दोनों के सन्तुलन से मनुष्य जन्म प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मों के अनुसार सूखे तूंबे या लौकी की तरह संसार सागर में घटीयंत्र की तरह ऊपर स्वर्गादि तथा नीचे नरकादि, सुख-दुखदायी क्षणभंगुर विचित्र योनियों में चक्कर लगाता रहता है।।४२।।

इन कर्मों का तथा संसरण का मूल कारण अविद्या होते हुए भी उसका निकटतम कारण काम या वासना है, ऐसा श्रुति-स्मृति में बारबार कहा गया है।

कर्म की उपयोगिता

काम का कारण अज्ञान है, अतः अज्ञान नाश ही काम-नाश का उपाय है। इससे यह शंका हो सकती है कि कर्म पूर्ण रूप से अनुपयोगी है। इसके उत्तर में ४५वें श्लोक बताते हैं कि कैसे कर्म मोक्ष हेतु दूर से, परोक्ष रूप से उपयोगी हो सकता है।

तस्यैवं दुःखतप्तस्य कथञ्चित् पुण्यशीलनात्।
नित्येहाक्षालितधियो वैराग्यं जायते हृदि।।४५।।

किंचित् पुण्य के अनुष्ठान से, दुख से संतप्त जीव, जिसकी नित्य-कर्म के अनुष्ठान से धुलकर बुद्धि स्वच्छ हो गयी है, उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है। **(क्रमशः)**

स्वामी विवेकानन्द के प्रिय गुडविन (७)

प्रव्राजिका व्रजप्राणा

(स्वामी विवेकानन्द की ग्रन्थावली का अधिकांश भाग गुडविन द्वारा लिपिबद्ध व्याख्यान-मालाएँ हैं। उनकी आकस्मिक मृत्यु पर स्वामीजी ने कहा था, ''गुडविन का ऋण मैं कभी चुका नहीं सकूँगा।... उसकी मृत्यु से मैं एक सच्चा मित्र, एक भक्तिमान शिष्य तथा एक अथक कर्मी खो बैठा हूँ। जगत् में ऐसे अति अल्प लोग ही जन्म लेते हैं, जो परोपकार के लिये जीते हैं। इस मृत्यु ने जगत् के ऐसे अल्पसंख्यक लोगों की संख्या एक और कम कर दी है।'' गुडविन के संक्षिप्त जीवन का अनुवाद पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

इस विषय पर महेन्द्रनाथ का अन्तिम निर्णय इस प्रकार था, ''भारतीय इतिहास छोड़ भी दें, गुडविन को इंग्लैंड के प्राचीन इतिहास का भी अधिक ज्ञान नहीं था। वे केवल सामाचार पत्र पढ़ते थे। इसीलिए स्वामीजी से इस विषय में सुनकर वे विस्मित हो गए। गुडविन स्वामीजी की इस प्रकार की बातों का विरोध अवश्य करते थे, किन्तु इस प्रकार तर्क-वितर्कों के द्वारा उनकी स्वामीजी के प्रति श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ होती गई।

लंदन में गुडविन स्टेनोग्राफर के साथ-साथ स्वामीजी के अन्तरंग परिचारक भी थे। स्वामीजी ने एकबार स्टर्डी से कहा था कि गुडविन मेरे लिए बहुत कुछ करता है, उसके बिना मुझे कठिनाई हो जाती है। महेन्द्रनाथ एक घटना का उल्लेख करते हैं, ''एकबार भोजन के लिए बैठते समय स्वामी विवेकानन्द ने गुडविन को डायरी देखने के लिए कहा कि आज किसी से मिलना तो नहीं है? गुडविन ने देखा कि इसी समय पार्क लेन में राजपरिवार के विशिष्ट व्यक्ति से मिलने का निमन्त्रण है। निर्धारित समय में लगभग दस मिनट बाकी थे और तुरन्त दौड़ादौड़ी शुरू हो गई। इतने कम समय में कपड़े-जूते बदलना और गाड़ी की व्यवस्था इत्यादि करनी थी । गुडविन ने यन्त्र के समान खाते-खाते स्वामीजी के जूते की एक-एक कर रस्सी बाँधी, उन्हें टोपी और छड़ी देकर गाड़ीवाले को बुलाया और इस प्रकार स्वामीजी अपने निमन्त्रण को निभाने के लिए रवाना हुए ।''

एक अन्य घटना। स्वामीजी ने स्टर्डी को अपने पाईप-चिलम के लिए एक पाउन्ड तंबाकू खरीदने को कहा। स्टर्डी स्वयं धूम्रपान नहीं करते थे और ऊपर से कंजूस भी थे। वे कम दाम वाला घटिया एक पाउन्ड तंबाकू लेकर आए। ऐसा तंबाकू कि स्वामीजी कितना भी प्रयास करे, जलता ही नहीं था। स्वामीजी ने अब गुडविन से कहा, ''देखो, यह स्टर्डी बड़ा ही कंजूस है। वह कम दाम वाला बेकार तंबाकू ले आया है। न इसमें कोई सुगन्ध है, न कोई स्वाद। इसका धुँआ पाईप में खिंचता ही नहीं है। मेरे बच्चे! इसे फेंक दो और मेरे लिए अच्छा तंबाकू लेकर आओ। पूरा दिन लोगों से बात करने में, प्रवचन देने में और सोचने में चला जाता है। जब थोड़ी-सी धूम्रपान करने की इच्छा होती है, तो वह मिलता नहीं है। इस कृपण-स्वभाव वाले व्यक्ति के हाथ में पड़कर मेरे प्राण निकल गए हैं।'' गुडविन ने अपने गुरु के आदेश का पालन किया और अच्छा तंबाकू खरीद ले आए।

स्वामीजी जब अच्छे मिजाज में होते थे, तब बंगला गीत गुनगुनाते थे। गुडविन को भारतीय संगीत का ज्ञान नहीं था। उन्हें समझ में भी नहीं आता था और वे उसकी प्रशंसा भी नहीं करते थे। एक दिन सुबह नाश्ते के बाद स्वामीजी, स्वामी सारदानन्द जी, महेन्द्रनाथ दत्त और गुडविन भारतीय और यूरोपीय संगीत के बारे में चर्चा करने लगे। स्वामी सारदानन्द ने गुडविन को भारतीय संगीत के ध्रुपद राग के बारे में बताया और कहा कि स्वामीजी इस क्षेत्र में निपुण माने जाते हैं। महेन्द्रनाथजी इस विषय में अपने संस्मरण लिखते हैं, ''स्वामी सारदानन्द ने गुडविन को बड़ी सरलता से समझाया कि स्वामी विवेकानन्द बहुत अच्छे गायक हैं और उनकी गणना कलकत्ता के श्रेष्ठ गायकों में होती है। गुडविन को बड़ा आश्चर्य लगा और उन्होंने ताली बजाकर कहा, ''अरे, मैं तो यह जानता ही नहीं था। मैं उन्हें केवल महान दार्शनिक और अच्छे वक्ता के रूप में जानता था, पर यह नहीं जानता था कि वे एक उत्कृष्ट गायक भी हैं।'' गुडविन अनेक हावभाव द्वारा अपने इस आनन्द को अभिव्यक्त करने लगे। स्वामीजी की थोड़ी-सी कीर्ति बढ़ाने में वे फूले नहीं समा रहे थे।

स्वामीजी भी गुडविन की कार्यक्षमता और प्रबंधन-कुशलता की बड़ी प्रशंसा करते थे। राजनीतिक विषयों पर न सही, किन्तु पाश्चात्य में वेदान्त भावधारा के विषय में वे गुडविन की सलाह को महत्त्व देते थे। महेन्द्रनाथ कहते हैं, ''जब गुडविन ने कहा कि अमेरिका में वेदान्त प्रचार स्थायी रूप ग्रहण करेगा, तो स्वामीजी बहुत आनन्दित और उत्साहित हो गए।'' अनेकों बार प्रवचन देने के उपरान्त स्वामीजी यह समझ नहीं पाते थे कि उनका बोलना ठीक हुआ है या नहीं। प्रवचन देते समय स्वामीजी चेतना के उच्चतर

स्तर पर आरूढ़ हो जाते थे। उन्हें इस बात की स्मृति नहीं रहती थी कि उन्होंने स्वयं क्या कहा अथवा श्रोताओं की क्या प्रतिक्रिया हुई। ऐसे अवसरों पर गुडविन उन्हें आश्वासन देते और ढाढ़स बँधाते हुए कहते, ''स्वामीजी ! आज आप बुहत सुन्दर बोले।'' स्वामीजी भी अबोध बालक के समान गुडविन से पूछते, ''अच्छा! मैंने क्या कहा? क्या कहा मैंने?'' तब गुडविन उन्हें उनके प्रवचन का सार बताते। स्वामीजी भी प्रसन्न और सन्तुष्ट होकर गुडविन से कहते, ''इन सबको लिखो और अपने पास रखो, मुझे यह बहुत अच्छा लगा।''

६३ सेन्ट ज्योर्ज के जिस भवन में स्वामीजी और गुडविन रहते थे, वहाँ आनन्द और विनोद का वातावरण भी होता था। स्वामीजी और गुडविन दोनों का विनोद-कौशल विलक्षण था। महेन्द्रनाथ कहते हैं, ''गुडविन बहुत शरारती थे और सबको हँसाते थे।'' और स्वामीजी की विनोद-शैली भी अद्वितीय थी। एकबार स्टर्डी वहाँ उपस्थित लोगों को बता रहे थे कि उनके विद्यालय के एक मित्र को शिक्षक ने छड़ी से मारा था। स्टर्डी ने कहा, ''मुझे बहुत गुस्सा आता है, जब मैं देखता हूँ कि कोई व्यक्ति बच्चे को मार रहा है।'' गुडविन ने इस पर कहा, ''हाँ, मिस्टर स्टर्डी, मुझे भी ऐसा ही लगता है, जब कोई व्यक्ति गधे को मार रहा होता है।'' गुडविन की इस बात पर स्वामीजी ने कुछ और जोड़ा, ''ऐसा इसलिए कि उसके प्रति तुम्हारे अन्दर अपनेपन की भावना जाग उठती है।'' सब लोग हँसी के मारे लोटपोट हो गए।

एकदिन जब स्वामीजी, स्वामी सारदानन्द, महेन्द्रनाथ और गुडविन साथ में थे, तब गुडविन ने स्वामी सारदानन्द जी को अपने उच्छृंखल अतीत के बारे में कहा। उन्होंने स्वामी सारदानन्द से कहा कि किस प्रकार वे देररात तक जुआ खेलते और नृत्य करते थे। स्वामीजी ने पहले भी उनकी ये बातें सुनी थी। उन्होंने गुडविन से कहा, ''तुम्हारा नाम गलती से 'गुडविन' हुआ है, वह 'बैड-विन' होना चाहिए था। गुडविन ने असहमति में अपना सिर हिलाया और आँखें घुमाकर कहा, ''मैं 'बैड-विन' नहीं हूँ, पर 'गुड-विन' 'गुड-विन' 'गुड-विन' हूँ।'' स्वामीजी थोड़ा हँसे और बोले, ''तुम जुआ खेलते थे न, इसलिए तुम हमेशा वैसे ही सोचते हो।''

स्वामीजी ने भले ही इस विषय को सहज में लिया हो, किन्तु वास्तविकता यह है कि गुडविन अपनी इसी दुर्बलता (विचारधारा) को वश में नहीं कर सके थे। जब गुडविन अपने दुर्गुण स्वामी सारदानन्द जी को बता चुके थे, तब स्वामी सारदानन्द जी ने महेन्द्रनाथ से बंगाली में कहा, ''यद्यपि गुडविन स्वामीजी का भक्त है, किन्तु उसका अंग्रेज स्वभाव बड़ा ही प्रबल है। क्रिकेट, फुटबाल की उसे सनक है और जुआ उसका दुर्गुण है। उसके अन्दर अंग्रेज लोगों की सभी प्रकार की दुर्बलताएँ हैं।''

यद्यपि गुडविन में उनके अतीत की दुर्बलताओं के कुछ अवशेष थे, किन्तु दूसरों की दुर्बलताएँ दिखने पर वे सहन नहीं कर पाते थे, चाहे वे स्वामीजी ही क्यों न हो।... छोटे-से परिवार में समान स्वभाव वाले लोगों का भी मिलजुल कर रहना कठिन होता है। जब भिन्न स्वभाव वाले लोगों को कार्यवश एकसाथ रहना पड़ता है, तब पारिवारिक कलह होना कोई आश्चर्य नहीं है। बस, ऐसी ही स्थिति ६३, सेन्ट ज्योर्ज रोड पर स्थित इस भवन में हुई। विशेषत: स्टर्डी को गुडविन का वहाँ रहना पसन्द नहीं था। गुडविन स्वामीजी की सब प्रकार से सेवा करने में सक्षम थे, इसलिए कृपानन्द के समान स्टर्डी को भी उन पर ईर्ष्या होने लगी। कुमारी मूलर और गुडविन को भी एकसाथ कार्य करने में कठिनाई हुई थी। कुमारी मूलर के 'चिड़चिड़े स्वभाव' के बारे में लगभग सभी लोग परिचित थे, इसलिए गुडविन और उनका स्वभाव न मिलना कुछ आश्चर्य नहीं था। महेन्द्रनाथ लिखते हैं, ''गुडविन और कुमारी मूलर एकसाथ रह नहीं सके। यद्यपि इसका कोई विशेष कारण नहीं था, तो भी हो सकता है कि स्वामी विवेकानन्द गुडविन को अधिक पसंद करते थे और अपने सभी कार्यों के लिए उन पर ही निर्भर रहते थे। एकदिन गुडविन ने स्वामीजी से कहा, 'मेरा यहाँ रहना कुछ सुविधाजनक नहीं लग रहा है। बेहतर होगा कि मैं कहीं और रहूँ और केवल काम करने के लिए यहाँ आऊँ।' स्वामीजी ने उनकी बात सुनी और पूरी स्थिति समझ गए। वे दुखी होकर बोले, 'ऐसा कैसे होगा? मुझे चौबीसों घण्टे तुम्हारी आवश्यकता है, तुम यहाँ नहीं रहोगे, तो मैं काम कैसे कर पाऊँगा?' गुडविन ने कहा, 'मैं और क्या कर सकता हूँ, इन लोगों से मैं समंजन नहीं कर पा रहा हूँ? किन्तु मुझे अपना पेट भी चलाना है। दूसरी जगह जाकर रोजगार कर मैं किसी तरह अपनी व्यवस्था कर सकूँगा और यहाँ आकर मैं आपके प्रवचन को लिपिबद्ध करूँगा।' स्वामीजी सब सुन चुप रहे। उन्होंने कुछ नहीं कहा, किन्तु वे बीच-बीच में गुडविन का ध्यान रखते रहे।'' **(क्रमशः)**

ईशावास्योपनिषद (९)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उन्होंने यह प्रवचन संगीत कला मन्दिर, कोलकाता में दिया था। – सं.)

यदि ऐसा ही हमारा साधना-क्रम चलता रहा, इन्द्रियों से जो दिखाई देता है, उसे हमने प्रभु को समर्पित कर दिया, मानो प्रभु ही अवस्थित हैं, उन्हीं का रूप दिखाई देता है, हमने ऐसा भाव बनाने की चेष्टा की, तो अन्त में क्या होता है? उसके बाद सिद्धि की अवस्था कैसी होती है? यही अगले मन्त्र में कह रहे हैं –

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

कहा गया कि जिस समय सर्वभूत आत्मा ही बन जाते हैं, तब विज्ञानी को मोह-शोक नहीं होता। प्रसाद में मुझे प्रभु की, ठाकुरजी की उपस्थिति का अनुभव होता है। एक स्थिति ऐसी आती है, जब प्रसाद ही प्रभु-रूप हो जाता है। जो कुछ दिखाई देता है, वह प्रभु रूप ही हो जाता है। एक स्थिति है साधना की, जहाँ प्रभु की अवस्थिति मालूम पड़ती है। वह सिद्धि की अवस्था है, जहाँ दूसरा कुछ नहीं, प्रभु की अवस्थिति नहीं, प्रभु ही मालूम पड़ते हैं। सब-के-सब प्राणी आत्मा ही बन जाते हैं। ऐसा विज्ञानी, जो एक ही आत्मतत्त्व को देखता है, उसके लिए मोह कहाँ है? उसके लिए शोक कहाँ है? वह क्यों किसी से घृणा करेगा? किससे भेद-बुद्धि रखेगा? यह बात विज्ञानी के लिए कही गयी है। श्रीरामकृष्ण देव अज्ञान, ज्ञान और विज्ञान की बात हरदम कहा करते थे। गीता में भी कहा गया है –

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक ज्ञान है और एक विज्ञान है। ज्ञान के साथ-साथ मैं तुझे विज्ञान दूँगा। श्रीरामकृष्ण अधिक आगे चलकर कहते हैं – देखो रे ! किसी ने दूध के सम्बन्ध में पढ़ा है या सुना है, किसी ने दूध को देखा है और किसी ने दूध को चखा है। जिसने दूध के बारे में पढ़ा या सुना है, वह अज्ञान है और कभी-कभी वह विपरीत ज्ञान का कारण बनता है। जिसने दूध को देखा है, वह कभी-कभी दूध के बारे में भ्रम में पड़ जाता है, पर जिसने दूध को चखा है, वह विज्ञानी है। वह कभी भ्रम में नहीं पड़ता है। सुनकर, पढ़कर जो ज्ञान होता है, वह अज्ञान है और कभी-कभी विपरीत ज्ञान का कारण बनता है। वह प्रसिद्ध कहावत है – एक जन्मान्ध व्यक्ति था। वह भीख माँगता था। एक दिन वह कहीं जा रहा था। उसे एक मित्र मिला, जिसकी आँखें थीं। उसने पूछा – कहो सूरदास ! आज तुम वहाँ पर आये नहीं? सेठजी ने बढ़िया, बहुत सुन्दर सबको भोजन कराया ! सूरदास ने कहा – पता नहीं था भाई ! अरे कितनी चीजें बनी थीं? क्या-क्या बनी थीं? अरे, बहुत-सी चीजें बनी थीं, पर खीर बहुत लाजवाब थी।

सूरदास ने पूछा – खीर ! खीर क्या होती है ?

तूने खीर नहीं खायी?

नहीं तो !

अरे खीर, चावल और दूध दोनों को मिलाकर बनाते हैं।

चावल तो पता है। दूध क्या है?

दूध, तुम्हें नहीं मालूम सूरदास?

अरे दूध, पानी के समान तरल, पर उसका रंग सफेद होता है।

पानी तो मालूम है, पर ये सफेद क्या है?

सफेद होता है, अब ये कैसे समझाये? अरे सूरदास ! बगुले के समान सफेद !

बगुला? ये बगुला क्या बला है?

तब मित्र ने अपना हाथ बगुला के समान बनाकर कहा – यह टटोल के देखो, ऐसा होता है? सूरदास ने टटोलकर कहा – भैया ! ये तो बहुत टेढ़ी चीज है, ऐसी टेढ़ी खीर तुमने कैसे खायी होगी?

तो, जो पढ़-सुनकर के ज्ञान होता है, वह अज्ञान है। जिसने दूध को देखा है, वह ज्ञानी है, पर वह निर्मूल ज्ञानी नहीं है, उसके ज्ञान में भ्रम रह सकता है। जिसने दूध को देखा है, उसके सामने तीन कटोरियाँ रख दें। एक में खड़िये का घोल, दूसरे में मट्ठा और तीसरे में दूध और कहा जाये कि देख करके बताइये कि किस कटोरी में दूध है। वह नहीं बता सकता। क्योंकि तीनों एक समान दिखाई दे रहे हैं। किन्तु जिसने दूध को चखा है, वह एक कटोरी को उठाकर चखेगा और कहेगा, यह दूध नहीं है। दूसरी को उठाएगा, चखेगा, कहेगा, यह दूध नहीं है। तीसरी कटोरी को उठाएगा, चखेगा

और कहेगा कि यह दूध है। दूध को चखनेवाला विज्ञानी कभी भूल नहीं कर सकता। विज्ञानी के लिये सब कुछ आत्मा ही बन जाते हैं। केवल आत्मा की अनुभूति या आत्मा की उपस्थिति का भान नहीं, बल्कि ये सब आत्मतत्त्व ही बन जाते हैं। जो इस प्रकार सबमें एकत्व ही देख रहा है, ऐसे विज्ञानी को फिर कहाँ मोह? कहाँ शोक? वह कथा आप पढ़ते हैं न ! कुछ लोग नाव से नदी पार कर रहे थे। उसमें एक साधु बाबा भी थे। उसमें कुछ दुष्ट जन भी थे। वे कहने लगे – वाह ! वाह ! कैसी चिकनी मुंडी है? बहुत बढ़िया, इस पर तो बढ़िया तबला बजाया जा सकता है ! एक ने तबला बजाना शुरू किया। अब साधु बाबा चुप हैं। दूसरे ने कहा, अरे तबला क्या, नगाड़ा पीटो। एक उनके सिर पर नगाड़ा जैसा बजाने लगा। अब साधु बाबा ने तो कुछ कहा नहीं। किन्तु भगवान से सहा नहीं गया। उन्होंने साधु से कहा – अरे ! ये लोग तेरा अपमान कर रहे हैं। यह तो मेरा अपमान है। अगर तुम कहो, तो इस नौका को मैं उलट दूँ? इनको अपने किए का सब फल मिल जायेगा। साधु बाबा बोले – हे भगवान ! अगर उलटना ही है, तो नौका को क्यों उलटते हो? इनका दिमाग उलट दो न ! इससे ये ठीक हो जायेंगे। ऐसे सहिष्णु और एकत्वदर्शी सन्त होते हैं, जो किसी से द्वेष नहीं करते।

अब हम आठवाँ मन्त्र और उसके बाद के जो छह मंत्र हैं, जहाँ विद्या, सम्भूति, असम्भूति है, इस पर कल विचार करेंगे। आज यहीं पर समाप्त करते हैं। हरि ॐ तत् सत्।

दूसरा व्याख्यान

समागत देवियो और सज्जनो ! ईशावास्योनिषद पर विगत दो दिनों से चिन्तन चल रहा है। पहले मन्त्र में गुरु ने शिष्य को सिद्धान्त का उपदेश दिया। दूसरे मन्त्र में कहा कि इस सिद्धान्त का व्यवहार जीवन में तुम्हें कार्य से निर्लिप्त बनाकर रखेगा। कर्म नहीं चिपकता है, इसलिए कर्म से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। आसक्ति कर्म को मनुष्य से चिपकाती है। उन्होंने उस आसक्ति को दूर करने के लिए उपदेश दिया कि जो कुछ दिखाई देता है, उन सबमें भगवान बसे हुए हैं। सब कुछ ईश्वर से आवृत देखना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया, तो महान हानि है। मरने के उपरान्त भिन्न-भिन्न योनियों में मनुष्य को जाना पड़ता है। स्वर्ग भी ज्ञान की दृष्टि से एक घोर अन्धकार से भरा हुआ लोक है। स्वर्ग में जानेवाला व्यक्ति भी वस्तुत: जो सदा विद्यमान आत्मतत्त्व है, उसका घात करनेवाला ही बनता है। यह तीसरे मन्त्र में कहा। शिष्य ने प्रश्न पूछा होगा – जिस आत्मतत्त्व का मनुष्य घात कर बैठता है, उसका स्वरूप क्या है गुरुदेव?

गुरु ने चौथे और पाँचवें मन्त्र में विरोधी गुणों के माध्यम से, वैतर्किक प्रणाली का अनुसरण करते हुए उस आत्मतत्त्व के स्वरूप का उपदेश दिया। क्योंकि आत्मतत्त्व अति गहन है। उसे वाणी से समझाना बहुत कठिन है। उसे अवाङ्मनसगोचर कहा गया है, फिर भी भिन्न-भिन्न, विपरीत गुणों के माध्यम से उस तत्त्व के सम्बन्ध में कम-से-कम एक चित्र आँकने की चेष्टा की गयी है। आत्मतत्त्व सब जगह है। जैसे hypothetical ईश्वर की कल्पना विज्ञान के क्षेत्र में पहले थी, for transmission of heat energy, magnetic energy, light energy, बीच के कुछ वर्षों में hypothetical ईश्वर को काट दिया गया, परन्तु आज फिर से hypothetical ether की बात विज्ञान के क्षेत्र में सम्मत है। कल्पना कीजिए कि आत्मतत्त्व सर्वव्यापी है। किसी भी क्रिया के सम्पन्न होने के लिए आत्मतत्त्व की उपस्थिति अनिवार्य है। उसी की उपस्थिति और अवस्थिति के कारण कोई भी क्रिया सम्भव हो पाती है। आँखें जहाँ भी जाती हैं, तो देखती हैं कि आत्मतत्त्व तो पहले से पहुँच गया है। यदि आत्मतत्त्व न होता, तो देखने की प्रक्रिया सम्भव न होती। आत्मतत्त्व स्थिर रहकर के भी भागती हुई चीजों को पार कर जाता है। कल हमने आपके समक्ष परदे का उदाहरण दिया था। फिल्म और स्क्रीन के उदाहरण के माध्यम से इसे हम समझ सकते हैं।

छठे मन्त्र में साधना की स्थिति का वर्णन किया। जो कुछ दिखाई देता है, नैवेद्य के रूप में अर्पित कर प्रसाद के रूप में ग्रहण करो। हनुमानजी अशोक वाटिका में माँ सीताजी के सामने प्रकट हुए। उन्होंने जानकीजी को प्रभु श्रीराम का सन्देश सुनाया। उसके बाद उन्होंने कहा – माँ ! मुझे बहुत भूख लगी है। यहाँ पर फल है, क्या उसे खाऊँ? तब माँ ने क्या कहा? माँ ने कहा कि तुम श्रीराम को हृदय में धारण कर यथेष्ट फल खा लो। प्रवृत्ति नगरी के फल को यदि हमने नैवेद्य के रूप में अर्पित न कर उसे ग्रहण किया, तो वह भोग हमारे भीतर विपरीत प्रकार की विकृति उत्पन्न कर सकता है। परन्तु यदि प्रभु को समर्पित कर दिया, तो उससे फिर किसी प्रकार की विपरीत विकृति या कोई विकार सम्भव नहीं है। जब हम भोगों को प्रभु के चरणों में अर्पित कर प्रसाद के रूप में ग्रहण करते हैं, तो उन वस्तुओं के ग्रहण के समय भी ईश्वर की स्मृति बनी रहती है। जैसे हम प्रसाद लें, तो प्रसाद में ईश्वर की अवस्थिति का भान होता है। इसी प्रकार साधना को आगे बढ़ाते-बढ़ाते साधक सिद्ध बन जाता है, विज्ञानी बन जाता है। विज्ञानी बनने पर स्थिति कैसी होती है? तब सारे प्राणी, जितने भी स्थावर-जंगम पदार्थ दिखाई देते हैं, ये सभी उसके लिए आत्मतत्त्व ही बन जाते हैं। **(क्रमश:)**

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (२१)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

(निवेदिता के पत्रांश)

१८ जून, मिस मैक्लाउड को

इस सप्ताह एक दिन सुबह स्वामीजी से मिलने जाने पर उन्होंने प्रगति के विषय में मेरी धारणा की युक्तिहीनता के विषय में चर्चा की। परन्तु इसके साथ ही वे बोले कि जी-जान से कार्य किये जाऊँ – 'थक जाने के निमित्त'। 'मार्गरिट, तुम मृत्यु की अन्धभक्त बनो' – आदि कहते रहे। कैसी अद्‌भुत उक्ति है!

स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार होने के बाद २० जून, १८९९ को स्वामीजी ने यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा की। यह उनके लिये पश्चिम की दूसरी और अन्तिम यात्रा थी। इस यात्रा के कई कारण थे – पहला था, पेरिस में होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय धर्म-कांग्रेस में भाग लेने का आमंत्रण; दूसरा था, बिगड़े हुए स्वास्थ्य को सुधारने की इच्छा; और अन्तिम था, जिन प्राच्य तथा पाश्चात्य, दो भूखण्डों पर प्राच्य विवेकानन्द खड़े थे, वे पाश्चात्य को अपना अन्तिम सन्देश देना चाहते थे। उनकी इस यात्रा के दौरान इंग्लैंड तक उनके भ्रमणसंगी थे – स्वामी तुरीयानन्द तथा भगिनी निवेदिता। तुरीयानन्द को वे अमेरिका के प्रचार-कार्य हेतु छोड़ आने के लिये साथ ले जा रहे थे; और निवेदिता जा रही थीं अपने भारतीय कार्य के लिये धन संग्रह करने और अमेरिका में भारत-विषयक फैली भ्रान्तियों का निराकरण करने।

२० जून से ३१ जुलाई, १८९९ तक की इस समुद्र-यात्रा को निवेदिता ने अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ काल कहा है। ऐसा कहने का कारण यह है कि इसी दौरान उन्हें पहली बार स्वामीजी के साथ लगातार घनिष्ठ रूप से मिलने का सौभाग्य मिला था; और अलमोड़ा के तीव्र मानसिक संघर्ष के बाद वे मिस मैक्लाउड की यह बात समझ गयीं कि स्वामीजी के समान प्रेरित व्यक्ति को तर्क में लगाये रखना निर्बुद्धिता है; उनके लिये एकमात्र कर्तव्य था कि उस अग्नि के उद्दीप्त हो उठने की प्रतीक्षा करते रहना तथा उसके उद्दीप्त हो उठने के लिये अनुकूल परिवेश तैयार करना; और उसके उद्दीप्त हो उठने के बाद उसके प्रकाश तथा ताप को ग्रहण करना। यही मन:स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण निवेदिता के लिये इन डेढ़ महीनों के दौरान स्वामीजी के स्वरूप का दर्शन करना सम्भव हो सका था। इसके अतिरिक्त दो महादेशों के मध्यवर्ती समुद्र के ऊपर तैरते हुए विवेकानन्द को अनेक चिन्ताओं तथा पीड़ाओं से सामयिक रूप से मुक्ति मिल गयी थी, अत: उनके विचारों का अबाध रूप से प्राकट्य भी सम्भव हो सका था।

निवेदिता ने अपने 'द मास्टर' ग्रन्थ में इस यात्रा के फल के विषय में लिखा है –

''इन छह सप्ताहों की समुद्रयात्रा को ही मैं अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ घटना मानती हूँ। इस अवधि में स्वामीजी से मिलने के जितने भी अवसर मेरे हाथ लगे, उनमें से किसी को भी मैंने नहीं छोड़ा और इस दौरान मैं अन्य किसी से प्राय: नहीं मिली। ... इस प्रकार मुझे उनके मन तथा व्यक्तित्व का एक दीर्घ अविच्छिन्न परिचय पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसके लिये किसी भी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति यथेष्ट नहीं होगी।

''इस समुद्रयात्रा में प्रारम्भ से अन्त तक विविध विचारों तथा कथाओं का प्रवाह बहता रहा। किसी को पता ही न था कि कब स्वामीजी के अन्तर्बोध का द्वार खुल जायेगा और इसके फलस्वरूप हम नये-नये सत्यों का ज्वलन्त भाषा में वर्णन सुन सकेंगे।''

'द मास्टर' ग्रन्थ में 'आचार्यदेव के साथ गोलार्ध पार' अध्याय में निवेदिता ने इस यात्रा का अतुल्य वर्णन किया है; और स्वामीजी जिन भावों तथा कथाओं में डूबे रहते थे, उनका सारमर्म भी दिया है। वहाँ पर हमें महाकाली तथा मृत्यु-पूजा के प्रति उनके तीव्र आकर्षण की बात भी मिलती है। इन सभी चर्चाओं के बीच निवेदिता के लिये 'मानव' के प्रति स्वामीजी की अखण्ड श्रद्धा का रूप ही बड़े आकार में प्रकट हुआ था। वह 'मानव' कुछ अधिकारों या स्वार्थ की कामना के कारण नहीं, अपितु अपनी आत्मशक्ति के कारण बड़ा था। 'समस्त पृथ्वी की दृष्टि में सती महान् क्यों

है? क्योंकि वह इच्छाशक्ति की प्रतिमूर्ति है।' जहाँ कहीं भी मनुष्य के अन्दर से महानता अभिव्यक्त हुई है, वह महानता ही उनकी श्रद्धा का केन्द्र था – 'हाँ! जितनी ही मेरी आयु बढ़ती जाती है, उतना ही मुझे सब कुछ पौरुष में निहित दीख पड़ता है और यही मेरा नवीन सन्देश है। बुराई भी करो, तो एक आदमी की तरह करो!' स्वामीजी ने कहा था कि जिसे बड़ा होना है, उसे कष्ट उठाना ही होगा और उसे मिलनेवाला प्रत्येक इन्द्रिय-सुख जलकर राख में परिणत हो जायेगा – यह देखना ही उसकी नियति है। उसके लिये हर घटना ही जीवन की अन्तिम घटना है। इसी के बीच मनुष्यत्व की महिमा को देखकर स्वामीजी ने कहा था, ''जब सिंह के मर्मस्थल पर चोट लगती है, तभी वह प्रचण्डतम गर्जन करता है; जब नाग के सिर पर आघात होता है, तो वह फुफकारते हुए फन उठा लेता है; और जब मनुष्य के हृदय को गहराई तक चोट पहुँचती है, तभी उसकी आत्मा की महिमा प्रकट हो उठती है।''

निवेदिता ने उनकी मानव-प्रीति के विषय में संक्षेप में लिखा है, ''सर्वोपरि है मानव का पक्ष-समर्थन! यह समर्थन कभी परित्यक्त नहीं हुआ, कभी दुर्बल नहीं हुआ – अरक्षितों की रक्षा के लिये उनका संग्राम और दुर्बलों के पक्ष में उनकी वीरता सर्वदा नई ऊँचाइयों तक उठी है। हमारे आचार्य आये थे और चले भी गये; वे अपने परिचितों के हृदय में जो अमर स्मृतियाँ छोड़ गये हैं, उनमें उनकी मानव-प्रीति से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है।''

उनकी इस यात्रा के दौरान विभिन्न विषयों पर चर्चा हुई, जो 'द मास्टर' ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में बिखरी पड़ी हैं। तथापि निवेदिता ने स्वामीजी के आन्तरिक व्यक्तित्व को प्राय: आवृत ही रखा है। उन्होंने अपने पत्रों में उस अनासक्त विराट् मूर्ति पर थोड़ा प्रकाश डाला है। उन्हीं पत्रों से कुछ अंश उद्धृत किये जा रहे हैं –. **(क्रमशः)**

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (३३)

स्वामी भास्करानन्द, वेदान्त सोसायटी, वाशिंग्टन

अनुवाद : ब्रह्मचारी चिदात्मचैतन्य, रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल

साक्षात्कारी पुरुष अपनी शारीरिक सीमाओं को पार कर जाते हैं। वे अपने रहन-सहन, खान-पान, आवास या अपनी उम्र के बारे में नहीं सोचते। उनका जीवन-संगीत केवल ईश्वर और केवल ईश्वर पर ही केन्द्रित होता है, किसी अन्य पर नहीं। एक दिन स्वामी शान्तानन्द जी महाराज से मैंने पूछा, ''महाराज, आपकी उम्र कितनी है?''

स्वामी शान्तानन्द

वे अपनी उम्र नहीं जानते थे। वे बच्चे जैसे लज्जित हो गये। उन्होंने अपने सेवक को बुलाकर पूछा, ''सुशील, मैं कितने साल का हूँ?''

सेवक ने बहुत हिसाब-किताब करके उन्हें बताया, ''महाराज, अभी आपकी उम्र ८४ वर्ष है।''

शान्तानन्दजी महाराज अपनी आयु जानकर बहुत खुश हुए। उसके बाद उन्होंने मेरी ओर मुड़कर कहा, ''मेरी आयु ८४ साल है।'' हालाँकि मैं इसे सुन चुका था !

दो साल बाद पुन: मैंने उनसे पूछा – ''महाराज, आपकी उम्र कितनी है?''

उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के कहा, ''मेरी उम्र ८४ साल है।'' मानो उनकी उम्र कभी बदलती ही नहीं ! मैं अपनी हँसी रोक नहीं सका।

यद्यपि महाराज अपनी उम्र के बारे में भुलक्कड़ थे, तथापि वे आध्यात्मिक विषयों में अत्यन्त सजग थे। मैं इस सम्बन्ध में एक घटना सुनाता हूँ। मैं लगभग प्रतिदिन अपराह्न में महाराज के पास जाता था और वे मुझे निरपवाद रूप से श्रीरामकृष्ण-वचनामृत का पाठ करने के लिए कहते थे। प्रतिदिन की भाँति एक दिन मैं नीचे बैठकर, उत्तर की ओर मुख करके वचनामृत पढ़ रहा था। महाराज कैन्वस की आराम-कुर्सी पर पूरब की ओर मुख करके चुपचाप बैठे हुए थे। मुझे मालूम नहीं हो रहा था कि वे मेरे पाठ को सुन रहे हैं या अपने पावन चिन्तन में मग्न हैं। कुछ समय पढ़ने के बाद मुझे लगा कि वे मेरे पाठ को नहीं सुन रहे हैं। उनके मनोयोग की जाँच करने के लिए, मैंने जान-बूझकर वाक्य में एक शब्द को छोड़ दिया। अविलम्ब, महाराज मेरी ओर

मुड़कर बोले, "तुमने क्या पढ़ा?" मैं बहुत लज्जित हुआ। मैंने वाक्य को पुन: पढ़ा।

वचनामृत में लगभग १३०० पृष्ठ हैं। स्वामी शान्तानन्द जी महाराज को यह पूरी पुस्तक याद थी। कल्पना कीजिए, क्या अद्भुत स्मरण-शक्ति और एकाग्रता उनमें थी ! इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि हमारे शास्त्रों में यह बताया गया है कि जो कोई भी १०० प्रतिशत ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसमें मेधा-शक्ति विकसित हो जाती है।

जिनका जीवन ईश्वरमय हो जाता है, वे चाहे कोई भी कार्य क्यों न करें, वे सदा ईश्वर का स्मरण करते रहते हैं। मैंने इसका प्रमाण स्वामी शान्तानन्दजी महाराज के जीवन में पाया। एक बार मैंने महाराज के फोटो को बड़ा करके उनके पास लाया। वे उसे ऐसे देखने लगे, मानो किसी दूसरे का फोटो देख रहे हों।

मैंने पूछा, "महाराज, क्या आपको यह फोटो पसन्द है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ, यह बहुत अच्छा है, लेकिन बहुत बूढ़े आदमी का लगता है।"

मैं हँसने लगा। महाराज उस समय ८२ साल के थे। इसके बाद मैंने कहा, "महाराज, क्या इस फोटो पर आप अपना हस्ताक्षर करेंगे?"

"मेरा हस्ताक्षर क्यों?"– उन्होंने पूछा।

मैंने किसी तरह साहस जुटाकर उनसे पूछा,"महाराज, आपको श्रीमाँ से बहुत सारा आशीर्वाद मिला है। क्या आप छोटा-सा आशीर्वाद भी मुझे नहीं देंगे?"

वे इससे प्रसन्न हुए और बोले - "ठीक है, तुम मुझसे किस भाषा में हस्ताक्षर लेना चाहते हो – बँगाली या अँग्रेजी में?"

मैंने खुशी से उत्तर दिया -"महाराज, आप जिस भाषा में चाहें दे सकते हैं।"

उसके बाद उन्होंने एक कागज का टुकड़ा लिया और उस पर कुछ लिखने लगे। मैं कुछ समझ नहीं सका कि वे क्या कर रहे हैं। मैंने उनसे कागज के टुकड़े पर नहीं, बल्कि उनके फोटो पर हस्ताक्षर करने के लिए आग्रह किया था ! कागज पर कुछ लिखने के बाद, महाराज ने उसको सिर से लगाकर प्रणाम किया। उसके बाद उन्होंने फोटो के पीछे 'स्वामी शान्तानन्द, २२.३.६६', अँग्रेजी में लिखकर मुझे दे दिया।

स्वाभाविक रूप से मैं उत्सुक था कि उन्होंने उस कागज पर क्या लिखा है ! मैंने उसे लेकर देखा, तो पाया कि उन्होंने उस पर – 'श्रीश्रीरामकृष्ण-शरणम्' - लिखा है।

देह-त्याग के पहले महाराज का शरीर बहुत दुबला हो गया था और वृद्धावस्था की बहुत सी बीमारियाँ भी हो गई थीं। उन्हें रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान, कोलकाता के अस्पताल में भर्ती किया गया था। मैं उन्हें देखने अस्पताल गया।

जैसे ही मैं उनके कमरे में गया, तो उनके बिस्तर के चारों ओर विभिन्न प्रकार के चिकित्सा-उपकरण देखकर स्तब्ध हो गया। उनके नाक में खाने की नली डाली गयी थी, उनके बिस्तर के एक ओर एक ऑक्सीजन सिलेंडर रखा हुआ था, दूसरी ओर मैंने कुछ अन्य चिकित्सा-उपकरण देखा। वहाँ का पूरा दृश्य मुझे स्तम्भित करने वाला था ! लेकिन जैसे ही मैंने उनके मुख की ओर देखा, मेरी सारी चिन्ता दूर हो गयी। क्या ही शान्तिमय मुख-मंडल था ! एक चिकित्सक आये। वे महाराज को इंजेक्शन लगाना चाहते थे। स्वामी शान्तानन्द जी महाराज उनकी ओर मुड़ गये। महाराज को इंजेक्शन देने के बाद चिकित्सक ने उनसे पूछा, "महाराज, क्या आपको कोई पीड़ा हुई?"

महाराज ने मुस्कुराते हुए अपना सिर हिलाकर बताया कि उनको कोई पीड़ा नहीं हुई।

स्वामी शान्तानन्द जी महाराज ने बृहस्पतिवार, १७ जनवरी, १९७४ ई. को श्रीमाँ का नाम लेते हुए शरीर-त्याग दिया। उनके शरीर को बेलूड़ मठ लाया गया और प्रेमानन्द मेमोरियल बिल्डिंग में उनके कमरे में रखा गया। ऐसा लग रहा था कि स्वामी शान्तानन्द जी महाराज अभी निद्रा में हैं। उनके चेहरे पर अभी भी शान्ति विराजमान थी।

साधु, भक्त एवं अन्य मित्र गण सभी उनको अन्तिम विदाई देने के लिए आये। एक-एक कर सबने उन्हें प्रणाम किया। मैं कमरे के एक कोने में खड़ा था। तभी श्रीमाँ के अन्य शिष्य स्वामी अभयानन्द (भरत महाराज) आये। भरत महाराज कट्टर अद्वैत वेदान्ती थे। इसके सिद्धान्तनुसार वे मन्दिर में प्रणाम नहीं करते थे। उस दिन वे स्वामी शान्तानन्द जी महाराज के कमरे में आये। अपनी भावना को दबाने में असमर्थ, उन्होंने हाथ जोड़कर अपने प्रिय संन्यासी-भाई को प्रणाम किया और चुपचाप कमरे से बाहर चले गये।

(समाप्त)

समाचार और सूचनाएँ

नारायणपुर, बस्तर में महासचिव महाराज का आगमन

१० अप्रैल, २०१८ को रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी सुवीरानन्द जी महाराज का रामकृष्ण मिशन, नारायणपुर में पदार्पण हुआ। उन्होंने ओरछा में नवनिर्मित विद्यालय भवन का उद्घाटन किया।

वार्षिकोत्सव सम्पन्न हुआ

रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर में २८ और २९ अप्रैल, २०१८ को वार्षिकोत्सव का आयोजन हुआ। २८ अप्रैल को ९ बजे विभिन्न प्रतियोगिताओं में विजेता छात्र-छात्राओं को पुरस्कार प्रदान किया गया। २९ अप्रैल को प्रात: श्रीरामकृष्ण रथ ने समस्त आश्रम परिसरवासियों के यहाँ भ्रमण किया। सभी ने अपने द्वार पर भगवान को पाकर बड़े प्रेम से पूजा की और सबके नाश्ता की व्यवस्था की गई थी। शाम ७ बजे सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें ठाकुर, माँ, स्वामीजी पर स्वामी व्याप्तानन्द, स्वामी राघवेन्द्रानन्द, स्वामी प्रपत्त्यानन्द और डॉ. ओमप्रकाश वर्माजी ने व्याख्यान दिये। स्वामी अनुभवानन्द और स्वामी कृष्णामृतानन्द जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर में २९ और ३० मार्च को विवेकानन्द युवा सम्मेलन का आयोजन किया गया। २९ मार्च को २ से ३.३० बजे के उद्घाटन समारोह में रामकृष्ण मिशन, ग्वालियर के सचिव स्वामी राघवेन्द्रानन्द जी, छत्तीसगढ़ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद के महानिदेशक डॉ. के. सुब्रह्मण्यम् ने व्याख्यान दिये। विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने शिविर की भूमिका पर प्रकाश डाला। मंच संचालन डॉ. बी. एल. सोनेकर जी ने किया।

द्वितीय सत्र ४ से ५.३० तक चला, जिसमें स्वामी राघवेन्द्रानन्द, स्वामी प्रपत्त्यानन्द और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. अवधेश प्रधान जी ने 'श्रीरामकृष्ण का वैशिष्ट्य' पर व्याख्यान दिये।

३० मार्च, २०१८ को प्रथम सत्र १० से ११.३० तक चला, जिसमें स्वामी राघवेन्द्रानन्द, स्वामी निर्विकारानन्द जी और डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने व्याख्यान दिये। द्वितीय सत्र १२ से १.३० बजे में स्वामी अव्ययात्मानन्द, हरिभूमि के सम्पादक डॉ. हिमांशु द्विवेदी और रायपुर सम्भाग के आयुक्त श्री ब्रजेशचन्द्र मिश्र ने सभा को सम्बोधित किया। तृतीय सत्र २.३० से ३.३० बजे में रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी ज्ञानगम्यानन्द और डॉ. अवधेश प्रधान जी ने शिविरार्थियो को सम्बोधित किया। चतुर्थ सत्र ३.३० से ४.१५ तक प्रश्नोत्तर हुआ। चतुर्थ सत्र ४.१५ से ५.३० तक समापन समारोह हुआ, जिसमें रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी, रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. शिवकुमार पाण्डेय और रामकृष्ण मिशन, इन्दौर के सचिव स्वामी निर्विकारानन्द जी ने व्याख्यान दिये। शिविर पूर्णत: नि:शुल्क था और भोजन, अल्पाहार की अच्छी व्यवस्था थी। सभी छात्रों को फोल्डर फाइल, पेन, पैड, स्वामी विवेकानन्द का शक्तिदायी विचार और स्वामी विवेकानन्द और उनका सन्देश नामक पुस्तकें दी गईं।

रामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर में २६ मार्च, २०१८ को एक अर्द्धदिवसीय भक्त-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें स्वामी अव्ययात्मानन्द, स्वामी राघवेन्द्रानन्द और स्वामी निर्विकारानन्द ने प्रवचन दिये।

रामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई में ३० मार्च की शाम को स्वामी राघवेन्द्रानन्द जी के व्याख्यान हुये।

श्रीरामकृष्ण आश्रम, जबलपुर में श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द की जयन्ती मनाई गई। इसमें रामकृष्ण मिशन, ग्वालियर के स्वामी सुप्रदीप्तानन्द जी, जबलपुर आश्रम के स्वामी स्वात्मानन्द जी, डॉ. निवेदिता बख्शी, दुर्गावती विश्वविद्यालय की डॉ. पूर्णिमा जैन, डॉ. एस. के देशमुख ने व्याख्यान दिये। जबलपुर की महापौर श्रीमती स्वाती गोड़बोले उपस्थित रहीं। आश्रम की भक्त श्रीमती जयन्ती पाण्डेय ने सबका स्वागत और धन्यवाद ज्ञापन किया। OOO